आपका स्वास्थ्य

(स्वास्थ्य संबंधी आयुर्वैज्ञानिक लेखों का संग्रह)

बलराजसिंह सिरोही

सर्वप्रिय प्रकाशन
लखनऊ

प्रथम संस्करण
1983

मूल्य
पच्चीस रुपये

प्रकाशक:
सर्वप्रिय प्रकाशन,
मकान नम्बर 554/174 क,
छोटा बरहा, आलम बाग, लखनऊ

मुद्रक:
शान प्रिंटर्स, दिल्ली-32

आवरण
चेतन दास

एकमात्र विक्रेता एवं वितरक
नेशनल बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स
27/A, जिया सराय, नई दिल्ली-110016

अनुक्रम

स्नेहमयी धर्मपत्नी
श्रीमती सुखबीर सिरोही
को
सप्रेम समर्पित

—बलराज

आपका स्वास्थ्य

1

'स्थूल और सूक्ष्म

भगवान ने शैतान बनाया, हैवान बनाया और इन्सान बनाया। शैतान को इन्सान की शक्ल से नफरत थी। आज भी है, और कितने ही इन्सान आज भी शैतानों को फूटी आख नही सुहाते। हैवान भी इन्सान से प्रसन्न नही थे और न आज है। इन्सान जब उत्पन्न हुआ तभी शैतान और हैवान उसके विनाश की तरकीबें सोचने लगे थे। कंस को तो इन्सान और इन्सानियत से इतनी चिढ थी कि उसने अपनी बहन देवकी की छह सन्तानें केवल इसलिए नष्ट कर दी कि इन्सान उसके साम्राज्य में कही उत्पन्न न हो जाये।

शैतान और हैवान को अंत मे सफलता मिली। इन्सान अवज्ञा कर बैठा। निर्माता कुपित हो गया। इन्सान का स्वर्ग मे रहना अब सभव न था। उसे पृथ्वी पर भेज दिया गया। पाप और मृत्यु अवज्ञा का दड है। दोनों ही साथ रहे हैं और साथ रहेंगे।

इन्सान जब पृथ्वी पर आया तो शैतान और हैवान, पाप और मृत्यु उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होने रूप बदला, आकार बदला और रहन-सहन ही नही, अपितु अभिशप्त को प्रताडित करने का तरीका भी बदल डाला। रोग और रोगाणुओ का जन्म हुआ। सूक्ष्मातिसूक्ष्म रोगाणु, सूक्ष्म रोगाणु, सामान्य रोगाणु और दीर्घकाय मानव सदृश रोगाणु। कुछ इन्सान के दुश्मन। कुछ इन्सानियत के शत्रु। प्रेमी की प्रेयसी का हरण किया, सुहागिनों के सिदूर पोछे, गोदी के लाल छीने, वृद्धों का आश्रय कुचल दिया, कुल का दीपक बुझा दिया। आंख के तारे नष्ट, दिल के दुलारे नष्ट। रावण, कुम्भकरण, दुर्योधन, दुशासन प्राचीन रोगाणु है। नादिरशाह और

चंगेज खां अर्वाचीन। इनके कारनामों से स्वर्ग से भी महान जननी और जन्मभूमि का मस्तक लज्जा से झुक जाता है। समस्त भूमंडल अबलाओं, अपाहिजों और शिशुओं की चीत्कारों से भर जाता है। कभी देवता दधीचि की हड्डियां मांगने दौड़ते हैं और कभी विष्णु मानव-रूप में अवतरित होते हैं। कृष्ण भगवान ने 'यदा यदा हि धर्मस्य·····' का वचन दिया। खुदा के बेटे प्रभु यीशु ने आत्म बलिदान किया और दूसरी बार फिर लौटने का वचन किया लेकिन···!

सामान्य रोगाणु कई बार स्थूल रोगाणुओं से भी भयानक सिद्ध हुए हैं। इन्हें कई वर्गों में रखा गया है जैसे, विषाणु, रिकेट्सिया, जीवाणु इत्यादि। किन्तु यह बहुत बाद की अवस्था है। आदि काल में जब प्लेग और महामारियां फैलती थी तो उन्हें शैतान की करतूत समझा जाता था और उनसे छुटकारा पाने के लिए अनेकानेक शक्तियों की पूजा-आराधना की जाती थी। धर्म का स्वरूप कुछ स्पष्ट हुआ तो रोगों को कुकर्मों का फल समझा जाने लगा। लोगों का विश्वास था कि यदि किसी क्षेत्र के सभी लोग पापी हो जायें तो वहां महामारियां फैल जायेंगी। डेविड ने शैतान के कहने पर इज़रायल की जनगणना आरम्भ कर दी और 70 हज़ार व्यक्तियों को दैवी कोप भुगतना पड़ा।

इस बीच कुछ लोग बुद्धि का प्रयोग करने लगे थे। उन्होंने देखा कि तारे और ग्रह घूमते रहते हैं। अतः सभी रोगों और महामारियों की व्याख्या पृथ्वी की स्थिति के परिप्रेक्ष्य में की जाने लगी थी। कुछ लोगों को ये ग्रह दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रभावित करते थे। उनके कष्ट का कारण भी यही था। आज भी इससे छुटकारा नहीं मिल सका है और पता नहीं कितने लोग रोजाना 'अपने दिन' ज्योतिषियों से दिखाया करते हैं।

रोग और पर्यावरण के बीच लोगों ने जो सम्बन्ध स्थापित किये उनमें से कुछ तो विज्ञान की कसौटी पर भी खरे उतरे हैं किंतु कुछ एकदम भ्रामक सिद्ध हुए। यह देखा गया कि दलदली और नम भूमि के समीप रहने वाले लोगों को एक विशेष प्रकार का बुखार हो जाता है। बस, लोगों को विश्वास

हो गया कि यह ज्वर वायु-प्रदूषण से होता है और उसका नाम मलेरिया (बुरी वायु से उत्पन्न) रखा गया। बुरी वायु के आधार पर अन्य अनेक रोगों की भी व्याख्या की जाने लगी और 18वीं शताब्दी के अंत में तो यह बुरी वायु लोगों के मस्तिष्क में इस सीमा तक प्रवेश कर चुकी थी कि 1793 में डा० बेंजामिन रश ने यह घोषणा कर दी कि काफी के सड़ने से निकलने वाली दूषित वायु के कारण फिलाडेल्फिया में पीत ज्वर फैल गया है। अब डिफ्थेरिया वाहितमल की गैस से उत्पन्न होता था और टाइफाइड गंदी नालियों के सड़ने से। डा० पेटनकाफर ने बताया कि हैजा और टाइफाइड भूमि के नीचे के जल-स्तर मे कमी हो जाने पर फैलते हैं।

रोग-नियंत्रण के उपाय भी इन्हीं अनेक मूर्खतापूर्ण सिद्धांतों पर आधारित थे। वायु को शुद्ध करने के लिए लकड़ी के बड़े-बड़े ढेरों में आग लगा दी जाती थी या फिर तोप दाग दी जाती थी। वायु को शुद्ध करने के लिए अनेक वस्तुओं की धूनी दी जाती थी। कभी-कभी तो घरों को ही आग लगा दी जाती थी। एक बार एक जहाज के कर्मचारियों को हैजा हो गया। अतः दूषित वायु निकालने के लिए जलयान के तल में छिद्र कर दिया गया और कुछ देर बाद जलयान अथाह सागर की गोद में समा गया।

दूषित वायु सम्बन्धी सिद्धांतों में यद्यपि वास्तविकता नहीं थी, किन्तु इससे इतना स्पष्ट हो गया था कि रोग गंदगी से फैलते हैं और इसलिए सफाई पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा था। विदेशों से आने वाले लोगों को कुछ समय के लिए देश के बाहर ही रोक लिया जाता था, क्योंकि अधिकारियों को भय था कि कहीं ऐसे लोग अपने साथ रोग न ले आये हों। महामारियों के समय लोग एक-दूसरे के घर आने-जाने का त्याग करते थे और उनसे सम्बन्धित रोगियों तक से मुंह मोड़ लेते थे। कुओं का पानी [illegible] कर दिया जाता था तथा नालियों की सफाई में काफी ध्यान [illegible] 19वीं शताब्दी के अंत में जन स्वास्थ्य संबंधी सिद्धांत की स्थापना के लिए तैयार हो चुका था।

जब चरमसीमा को पार कर जाती है, धैर्य जब साथ छोडने लगता है और राक्षसी वृत्तियां जब अपने आपको भ्रमवश अजेय समझने लगती हैं तो सत्य और शांति की स्थापना के लिए या तो अचानक मार्ग निकल आता है या फिर स्वाहा का उद्घोष वायुमंडल का प्रदूषण समाप्त कर देता है और आशा प्रकाशवान हो उठती है। हालैण्ड मे लीवनहूक ने 1976 मे वैज्ञानिकों को सूक्ष्मदर्शी के रूप मे तीसरा नेत्र प्रदान किया और सूक्ष्मजीव प्रकाश में आ गये। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे चिकित्सा जगत के मसीहा लुई पास्चर ने सिद्ध कर दिया कि कुछ रोग असंदिग्ध रूप से सूक्ष्मजीवों से उत्पन्न होते है। उसने कुछ रोगो के सूक्ष्मजीवो को परखनली मे सवंधित करके दूसरे प्राणियों के शरीर मे प्रविष्ट कर दिया और ऐसे प्राणी रोगग्रस्त हो गये। वह कुछ ऐसे रोगो को भी छूत के रोग सिद्ध करने मे सफल हो गया जिनके रोगाणु वह पहचान नही सका था। उसने यह भी सिद्ध किया कि ये रोगाणु अचानक उत्पन्न नही हो जाते, अपितु पहले से मौजूद सूक्ष्मजीवों की संतति होते हैं और मौका लगने पर स्वस्थ लोगों पर आक्रमण करके उन्हे रोगग्रस्त कर देते हैं। कॉरव तथा उसके सहयोगियों ने इस निष्कर्षों को अधिक विस्तृत रूप प्रदान करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

वैज्ञानिक युग में एक ओर तो रोगाणुओं की पहचान हुई और दूसरी ओर रोग के उपचार की दिशा बदली। अब वैज्ञानिकों को रोगरोध क्षमता नामक अजेय शक्ति प्राप्त हो चली थी। प्रयोगशालाओं में रात भर लैम्प जलता रहता और वैज्ञानिक निरंतर नये विभीषणो की खोज मे लगे रहते। इन विभीषणो को शरीर में प्रविष्ट कराया जाता था ताकि शरीर के पहरेदार अर्थात भक्षक कोशिकाएं इन्हे काबू करके भावी रोग रूपी रावण की शक्ति और उसे नष्ट करने का भेद जान सकें। इसके बाद शरीर में रोगाणु प्रविष्ट कराये जाते किंतु इस समय तक प्राणी के शरीर में रोग-रोध क्षमता उत्पन्न हो चुकी होती थी। सावधानी-पूर्वक तथा लगातार प्रयोग के बाद कुछ रोगरोधी पदार्थ मानव रक्त मे प्रविष्ट कराया जाता

और प्रयोग सफल होने पर अन्य रोगों को इसका प्रयोग करने की सलाह दी जाती । इन परिश्रमों के फलस्वरूप रोग के बचाव की आधुनिकतम औषधियां हमारे सामने आ सकी हैं और लगातार आ रही हैं । मनुष्य को इस मोर्चे पर विजय प्राप्त करने के लिए निरंतर जागरूकता का परिचय देना पड़ा है । और जब भी कभी तनिक-सी भूल हुई है, रोगाणु रौद्र रूप धारण कर गए हैं । इन प्रयोगों में अनेक वैज्ञानिक और सैकड़ों, हजारों व्यक्ति शहीद हुए हैं किंतु भगवान शिव की भांति स्वयं हलाहल पीकर, इन्होंने दूसरों को सुरक्षा कवच प्रदान किया है।

छूत के रोगों को स्थूल रूप में दो वर्गों में रखा जा सकता है । अपने रोगों के रोगाणु हमें अपने परिवार से, मित्रों या संबंधियों से अथवा यों कहें कि मानव समाज से प्राप्त होते हैं। पराये रोगों के रोगाणु हमें या तो ऐसे प्राणियों के सम्पर्क में आने से प्राप्त हो जाते हैं जिन्हें हम शौक के लिए या लाभ के लिए अपने घरों में रखते हैं या फिर ये चूहे, जू और खटमल आदि के रूप में स्वयं ही हमारे चारों ओर विद्यमान रहते हैं । रोगी होना कोई नहीं चाहता किंतु यदि अज्ञान के रोगाणु मस्तिष्क में पहले ही विद्यमान हों तो दूसरे रोगाणुओं को प्रविष्ट होने से कौन रोक सकता है ?

2

उपदंश या आतशक रोग

देवताओ के सिखाये हुए कामदेव पांचों बाण सजाकर मदमाती चाल से कैलाश पर्वत की ओर चले और भगवान शिव की समाधि भंग करने के लिए लगातार प्रहार करने लगे। त्रिपुरारी ने रौद्र रूप धारण कर लिया। तीसरे नेत्र की ज्वाला मे कामदेव जल उठे। रति विलाप करने लगी। भोले बाबा का मन पसीज गया। उन्होने वरदान दिया कि रति के पति कामदेव प्रत्येक मन में निवास करेंगे और प्रिया मिलन की आग भड़काते रहेंगे। कामदेव अमर हो गये किन्तु जलन समाप्त नही हो सकी और आज भी शमाओं पर मर मिटने-वाले परवानों के शरीर मे जब यह घृणास्पद ज्वाला दहकने लगती है तो बन्द दरवाजों और ऊंची चहार दीवारियों के भीतर किये हुए गुप्त कारनामे सडक चलती कहानियां बन जाते हैं। उन्हे उपदंश या आतशक हो जाता है।

1493 मे कोलम्बस हेटी से लौटकर बार्सिलोना पहुंचा। वह अपने साथ कुछ विदेशी स्त्रियां ले आया था और दहेज भी! दो वर्ष पश्चात फ्रांस के सम्राट, आठवें चार्ल्स ने नेपल्स पर आक्रमण कर दिया। स्पेन के सम्राट फर्दीनन्द कब चुप बैठने वाले थे। सेना सजाकर नेपल्स चल पड़े। इस सेना मे कोलम्बस के साथी भी थे। नेपल्स मे दोनों सेनाएं आमने-सामने खडी थी—एक-दूसरे को नष्ट कर देने के लिए और सब कुछ स्वाहा कर देने के लिए! किन्तु युद्ध के देवता यह भीषण नरसंहार देखने के लिए तैयार न थे। इसलिए युद्ध हुआ प्रेम की देवी वीनस की देख-रेख मे। सेनाओं में उपदंश फैल गया। भीषण महामारी। समूचा शहर और प्रति-

द्वन्द्वी सेनाएं त्राहि-त्राहि कर उठीं।

त्वचा पर कोढ़-जैसे चकत्ते पड़ गये। गलाव शुरू हो गया। मांस और अस्थियां गल-गलकर गिरने लगी। बदबूदार फुंसियां हजारों की संख्या में निकलीं। मुख, गला, नाक और आंखें सभी प्रभावित हो गये। 'गुप्तांग' छुपे नही रह सके। पीड़ा में सब कुछ बेपर्दा हो गया। रोग भी और रोग का कारण भी। चिकित्सको ने परीक्षा की। गंधक, पारा और न जाने कैसी-कैसी औषधियों के बने मरहमों के लेप चढाये गये। एक के ऊपर दूसरी परत। न जाने कितनी परतें अक्सर मौत के बीच में आ टपकती। गन्दा शरीर कब्र की साफ मिट्टी में दबा दिया जाता। कब्र खोदने वाले खुद इस तलाश में थे कि कोई दूसरा उनकी कब्र खोद दे। लाशें बहुत थीं। कब्र नही थी।

1496 में चार्ल्स के रोग-जर्जरित छह हजार सैनिक जान बचाने के लिए घरों की तरफ भागे। इस वर्ष फ्रांस, जर्मन, स्विटज़रलैण्ड, हालैण्ड और ग्रीस में वीनस ने प्यार का लाल गुलाल खुलकर छिड़का। शहर खाली होने लगे। स्कॉटलैण्ड में यह नया रोग 1497 में प्रकट हुआ और रूस तथा हंगरी में 1499 में। 1498 में वास्कोडिगामा केप ऑफ गुडहोप के रास्ते भारत पहुचा और साथ ही यह नया रोग भी। सड़कों और यातायात के साधनों की कमी उपदंश की यात्रा में बाधक कभी नहीं हुई। बरसात की अंधेरी रातों में जब हाथ को हाथ नही सूझता और जनवरी के महीने में सर्दी के कारण जब अकेले नीद नही आती, तो यह रोग और भी तेजी से फैलता है। उजाला इसे पसन्द नहीं। पन्द्रहवी शताब्दी के समाप्त होते-होते आतशक को विश्वव्यापी मान्यता मिल चुकी थी। उसे भीषण पापों का परिणाम और ईश्वर का प्रकोप माना जाने लगा था।

नीव रात के अंधेरे में रखी जाती है किन्तु पाप दिन के उजाले में प्रकट होता है। वीनस के होठों का यही प्रसाद है। 1859 में इटली की एक सुन्दरी का अधर रसपान करने वाले भौंरे उसी के होकर रह गये। सब कुछ लुटा बैठे। वे एकाग्रचित उसी का नाम लेते थे। अन्य से उन्हें

कोई मतलब नहीं। वास्तव में वे अब किसी दूसरे के मतलब के रह भी नहीं गये थे। गन्दी घृणित लाशें। जिन्दा मुर्दे। समूचा प्रान्त महामारी का शिकार था। मार्ग्रेटा सचमुच बड़ी बहादुर थी। इतना सुन्दर शरीर और इतनी ज्वाला। उफ्! इस युवती को सम्मान देने के लिए इस महामारी का नाम महान मार्ग्रेटा के नाम पर मार्ग्रेटा महामारी रखा गया।

फ्रिज शाडन और ऐरिक हाफमैन ने एक दिन कुछ पतले, लचीले, रंगहीन स्पाइरोकीट खोज निकाले। मानव रक्त में ये बड़ी मन्थर गति से चलते हैं, ठीक गजगामिनी की तरह। ये जीवित ऊतकों में तो खूब फलते-फूलते हैं किन्तु परख नली में तुरन्त मर जाते हैं। ये रोगाणु त्वचा के किसी बारीक जख्म के रास्ते शरीर में प्रवेश कर आते हैं। तीन सप्ताह या कभी-कभी तीन मास तक रोग के लक्षण प्रकट नहीं होते। इस बीच ये अपनी संख्या बढ़ाते रहते हैं और दशाएं उपयुक्त हों तो तबादला कर लेते हैं क्योंकि प्रेमी और प्रेयसी भले ही भिन्न हों, किन्तु रोगाणु लिंग भेद नहीं करते और बड़ी आसानी से एक शरीर से दूसरे शरीर में चले जाते हैं। अन्त में विलक्षण आतंकिक चिह्न प्रकट होता है—पीड़ारहित और चमकीला लाल—जो धीरे-धीरे नये पैसे के आकार का हो जाता है। फिर शीघ्र घटने लगता है और लुप्त हो जाता है।

अनेक मास तक कोई नयी बात नहीं होती। इसके बाद रुक-रुककर सिरदर्द और बुखार होने लगता है। रोग अचानक बढ़ता है और बार-बार आक्रमण करता है। गुप्तांगों, हथेलियों और पैर के तलुओं की त्वचा चटखने लगती है। लाल चकत्ते और फुंसियां हो जाती हैं, जिनमें जलन और पीड़ा होती है। मुख के भीतर के जख्म प्रकट और लुप्त होते रहते हैं। रानों की लसीका ग्रन्थियों पर सूजन आ जाती है और दबाने पर पीड़ा होती है। रोग-लक्षण प्रकट होकर शनैः-शनैः लुप्त हो जाते हैं और पुनः प्रकट होते हैं। यह क्रम चार वर्ष तक चल सकता है। अन्त में फुंसियां निकलनी बन्द हो जाती हैं, बुखार छूट जाता है और रोग समाप्त हो जाता है। नाटक का दूसरा अंक समाप्त समझिए।

रोग की तीसरी अवस्था काफी भयानक है और [illegible] मृत्यु हो जाती है। बीच की अवस्था में रोगाणु [illegible] है, किन्तु ये शरीर के गहन भागों में मौजूद रहते हैं। [illegible] सिद्ध होते हैं और सूक्ष्मदर्शी की आँखें भी [illegible] रोगाणु अचानक ही सक्रिय हो जाते हैं, किन्तु [illegible] में असमर्थ है। सक्रिय होने के पूर्व ही वे [illegible] होते हैं। इसलिए इस बार वमन कम होती है। [illegible] में चाहे कहीं भी छूते हों किन्तु [illegible] और सूखे हुए मांस का [illegible] बाद में गलकर गिर जाता है। [illegible] प्रभावित होने लगती है। [illegible] लगती है। दिमाग, गुर्दे, दिल और जिगर, [illegible] पहुँच के बाहर नहीं है, [illegible]

खिलते फूलों तक पानी पहुंचाने वाले पाइप में उद्गम स्थान पर ही छिद्र हो गया। नाली टूटते ही रक्त वक्षगुहा में बिखर गया। अब क्या जीवन शेष रह सकता है!

यदि रोगाणु मस्तिष्क के उस भाग में पहुंचने में सफल हो गये जहां विचार-शक्तिनिहित है, तो ऐसा मनुष्य धीरे-धीरे संसार से संबंध विच्छेद करने लगता है। अब उसे सपनों का संसार ही प्रिय लगने लगता है। कभी तीव्र आक्रोश और कभी मन्द हास! प्रारम्भ में ये हरकतें लोगों को आकर्षित करती हैं, किन्तु शीघ्र ही उन्हें तथ्य का आभास हो जाता है। इस समय तक रोगी पागल हो चुका होता है।

कभी-कभी रोगाणु सुषुम्ना पर आक्रमण करते हैं। पागलपन नहीं होता। मधुर स्वप्न नहीं आते। मस्तिष्क को विश्राम नहीं मिलता है। रोगी को कठोर वास्तविकता का आभास मिलता है। वह असुरक्षित महसूस करता है। अकारण गुस्सा करता है। टांगों की मंथर गति कठोर फौजी चाल में बदल जाती है। कदम आगे की ओर पड़ने की बजाय पार्श्व की ओर बढ़ने लगते हैं। विभ्रम उत्पन्न हो जाता है! दिशा का ज्ञान नहीं रहता। पुष्ट शरीर और सुदृढ़ मांस पेशियों के रहते रोगी का शेष जीवन रोगशैया पर बीतता है। रोगी असंयत हो जाता है। बिस्तर में ही मूत्र त्याग देता है। विकृत शरीर, न भरने वाले-ज़ख्म और पीड़ायुक्त जोड़, विश्रामदायनी शैया ऐसे लोगों को पाकर सिर धुनती है। चिकित्सकों और वैज्ञानिकों के लिए इन रोगाणुओं का कुछ भी महत्त्व हो किन्तु ऐसे रोगियों ने समाज को अनेक बार झकझोर दिया है। रोगाणु मस्तिष्क में पहुंचकर रोगी की भावनाओं, उसके कार्यों और यहां तक कि उसकी इच्छाओं को प्रभावित करने लगे हैं। ऐसे रोगी यदि समाज के उच्चासन पर विराज-मान हों तो निचली सतहों का क्या होगा! उच्चासन पर पहुंचने के बाद तो शौक पूरे करने की इच्छा और भी बलवती हो सकती है। इसलिए रोग और भी आसानी से लग जाता है।

ज्ञापेन हावर को ये रोगाणु उषाकाल में ही प्राप्त हो गये थे और

उसके मन मे जीवन-भर के लिए स्त्री जाति के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी।' आठवें हेनरी के शरीर में ये रोगाणु मस्ती से जीवित रहे और ब्रिटेन का इतिहास और धार्मिक परम्परा दोनो ही बदल गये। उचित समय पर रोगाणु साम्राज्ञी कैथरीन के शरीर मे चले गये और अन्य रानियों ने भी अपनी बारी के समय यह दान प्राप्त किया, हेनरी की अनेक सन्तानों का बीजारोपण किया किन्तु पिता का मुंह देखने के लिए ये सन्तानें गर्भ के बाहर न आ सकीं। बची केवल दो लड़कियां जिनमे से एक का मस्तिष्क गर्भ मे ही विकृत हो चुका था और वह रक्त की प्यासी मेरी के नाम से प्रसिद्ध हुई और दूसरी ऐलिज़ाबेथ रोगाणुओं से तो प्रभावित न थी किन्तु विवाह के प्रति जीवन पर्यन्त विद्रोही बने रहने का कारण शायद यही हो।

रास्पूतिन और उसके साथियों के मस्तिष्क को तो रोगाणुओं ने इतना अधिक प्रभावित कर दिया कि रूस की जनता अपने हाकिमों को घृणा की निगाह से देखने लगी थी। राजगद्दी की गरिमा को त्यागकर ये लोग नयी छोकरियों की तलाश में भटका करते थे। नित नयी सुहागरात मनाना ही इनका पेशा था।

एक दूसरे रोगी नीत्स ने महामानव का स्वप्न देखा। उसके देशवासी हिटलर ने सम्भवत: इन्ही के प्रभाव मे नीत्स का स्वप्न साकार करने का बीड़ा उठाया। उसने लाखों जर्मनों को ही नही अपितु शेष विश्व को भी यह समझाने का लगातार प्रयास किया कि जर्मन महामानव है और इस रोगी का पागलपन समाप्त होने के पूर्व लाखों स्वस्थ मनुष्य मौत के घाट उतर चुके थे।

नैतिकता और उसके मानदड समय-समय पर बदलते रहे हैं किन्तु आतशक से इनका सीधा सबंध है। आतशक के प्रचार-प्रसार के लिए यौन संबध आवश्यक हैं। छोकरी, रखैल, कालगर्ल, टैक्सी, घरवाली, महिला मित्र, गर्लफ्रेण्ड, ऑफिस वाइफ, या ऐसे ही कुछ अन्य शब्द एक ही ओर इशारा करते हैं। किन्तु कोठा और वैश्या नामक दो शब्द आज तक नहीं बदल सके हैं और ये इतने ही सत्य हैं जितना रोग और रोगाणु।

ये जादू के युग में मौजूद थे, अंधकार पूर्ण मध्ययुग में मौजूद थे और आज विज्ञान के युग में भी विद्यमान हैं और निश्चित समझिए कि भविष्य में भी विद्यमान रहेंगे। ये अजर भी हैं और अमर भी, अलख भी हैं और प्रकाशित भी। ये गुप्त रहते हैं, किन्तु वक्त पड़ने पर दिखायी पड़ जाते हैं, किन्तु उफ्! शायद आप स्वयं न देखना चाहें। इतना प्रयास करने पर दूसरे रोगों के रोगाणु सम्भवतः अब तक नष्ट हो चुके होते, किन्तु इन्हें विशेष सुविधा प्राप्त है। इनके स्थानान्तरण का समय निश्चित है, जो सदा पूर्ण संतोषजनक होता है। गुप्त स्थानों में। रात के अंधेरों में। दुनिया की नजरों से दूर।

मानव जाति में ये शत्रु भ्रूण को गर्भ में ही नष्ट कर देते हैं। माता-जैसी प्रेम की मूर्ति अपनी सन्तान की रक्षा नहीं कर पाती है। गर्भपात न हुआ तो जन्मते समय शिशु की मृत्यु हो जाती है। यदि बच भी गया तो विकृत मस्तिष्क और विकलांग शिशु, चलती-फिरती लाश से अधिक नहीं होगा। धर्म चाहे कुछ भी कहता हो, किन्तु कम-से-कम इस रोग में माता-पिता के कुकर्मों का फल सन्तान को भुगतना ही होता है।

आज मनुष्य सभ्यता के चरम शिखर पर है और अब तक उपदंश को समाप्त हो जाना चाहिए था। आज भी लोग चाहें तो रोग इस तरह गायब हो सकता है, जैसे गधे के सिर से सींग। किन्तु इसे विद्यमान रहना है। इसे रहना ही होगा। पाप को प्रकाशित करने के लिए! अंधेरी बात उजाले में कहने के लिए।

3

अल्पविराम

विश्व की किसी भी भाषा के व्याकरणविद् ने आज तक यह साहस नहीं किया कि कोमा को विराम कह दे। हिन्दी के व्याकरणविद् भी केवल एक कदम आगे बढ सके। उन्होंने कोमा को अल्प विराम कहा—पूर्ण विराम से पहले की स्थिति। इसका कारण संभवतः यही है कि कोमा के कारण जितने पूर्ण विराम भारत में लगे और आज भी लग रहे है उतने समस्त विश्व में कभी नही लगे। कोमा विषूचिका के रोगाणु का समरूप है, जिसके आगमन का अर्थ है, निश्चित मृत्यु। पूर्ण विराम।

विषूचिका का वर्णन वेदकालीन भारत के संस्कृत ग्रंथों मे मिलता है और साथ ही ऊला बीबी का भी। ऊला बीबी विषूचिका की देवी थी। अनेक शताब्दियो तक हज़ारों-लाखो भारतवासी ऊला बीबी की भेंट चढते रहे है। आज भी चढ़ रहे है, लेकिन कुछ कम संख्या में।

1325 मे ऊला बीबी का दिल्ली में आगमन हुआ। सुल्तान सहित हज़ारों नागरिक देवी की सेना में भरती हो गये। दिल्ली खाली हो गई।

1502 मे पुर्तगालियों ने गोवा पर आक्रमण किया। बीस हज़ार भारतीय योद्धा मातृभूमि की रक्षा के लिए मर मिटे। फिर ऊला बीबी का टैक्स। माथे का सिंदूर संग्राम के ज्वार में धुल गया और गोदी के लाल महामारी की आंधी में उड़ गए।

इसके बाद 1505 आया फिर 1543। 1648 मे टेवरनीयर ने लिखा कि रोगियों को दिन मे तीन बार गोमूत्र पीने को दिया जाता। मूच्छित रोगी की आखों मे मिर्चें डाल दी जाती और गरम सलाखें पैर के तलुओं

एक हाथ पसारा और डेढ़ लाख मिस्त्रियों को दबोच लिया। दूसरे हाथ की अंगुलियां काकेशस पर्वत और वोल्गा नदी पार करती हुई मास्को को अपनी चपेट में ले गईं। 29 मार्च, 1832 को हैज़े की लहर विश्व के सबसे सुंदर नगर पेरिस में जा पहुंची और योरुप में हाहाकार मच गया। गाड़ियां रोगियों को लेकर चिकित्सालय जाती और मार्ग में ही कब्रिस्तान की ओर घूम जाती। कब्र खोदने वालों की खोज की जा रही थी। मुर्दों से पृथ्वी पट गई थी। लाश ढकने के लिए कफन नहीं था। ताबूत कम पड़ गए थे। मातम करनेवालों को अपनी मौत से फुर्सत कहां। लाशें सड़ रही थीं। कुत्तों को मतली आ रही थी। गिद्धों को कुपच हो गया था। कितने ही जंगली जानवर लाशों के नीचे दब गये। गाड़ियां श्मशान की ओर भाग रही थीं। हज़ारों पक्षी दुर्घटना में मर गये।

9682

लीजिए भेद खुल गया। अचानक पेरिस शहर में खबर फैल गई, 'कुछ लोगों ने कुओं में विष डाल दिया है'। लोग हैज़े से नहीं विषाक्त पानी पीने से मर रहे हैं। सैकड़ों लोगों को इकट्ठा करके कतल कर दिया गया। लाशें सड़कों पर खींची गईं। दर्शक प्रसन्नता से चिल्ला उठे। अब कोई नहीं मरेगा। लेकिन मौत के पंजे कड़े होते गए। किसी दिन सौ-दो सौ मरते और दूसरे दिन हज़ारों लाशें सड़कों पर ऐंठी हुई पड़ी मिलतीं। अंत में हैज़ा रुक गया, सदा की तरह। लोग समाप्त हो गए, हैज़ा समाप्त हो गया।

बाढ़ समाप्त हो गई। रोगाणु चिंतित हो उठे। वे वायु में नहीं उड़ सकते। धूप उनके लिए घातक सिद्ध होती है। साफ पानी में जीवित बने रहने की कोई तुक नहीं। किंतु सदा की तरह लोगों ने उनकी सहायता की। जलपोत लदे और अमरीका की ओर प्रस्थान कर दिया। आशा की एक धूमिल किरण दृष्टिगोचर हुई। तट मिल गया। अमरीका मिल गया। कोलम्बस का भूत चिल्ला उठा। अमरीका मिल गया। रोगाणु न्यूयार्क में प्रविष्ट हो गए। मृत्यु अट्टहास कर उठी। पांच हज़ार न्यूयार्कवासी साफ़ हो गए। हैज़ा सदा की तरह आगे बढ़ गया। डा० रीज ने कहा हैज़ा संसर्गी

रोग नहीं है। यह दूषित पदार्थ से नहीं फैलता। लोग मूर्ख हैं जो ऐसा कहते हैं। रोग के लक्षण ब्रांडी और दूसरे प्रकार की शराब पीने से उत्पन्न होते हैं। हैजा बीयर और सुरा पीने से होता है।

अब तक भारत में दूसरी लहर प्रारंभ हो चुकी थी जो एक ही वर्ष में फारस, मीरिया, अरब और बुखारा होती हुई मास्को पहुंच गई। फिर तीसरी, चौथी और पांचवीं। क्रम चलता रहा। 1921 में भारत में 5 लाख व्यक्ति हैजे की भेंट चढ़े। 1924 में तीन लाख, 1930 में 4 लाख और 1942, 1946, 1948···

हैजे के रोगाणु आहार, जल या अन्य किसी प्रकार से मनुष्य की आंतों में पहुंच जाते हैं और वहां पहुंचकर तीव्र वृद्धि करते हैं। विश्व में आज तक भी ऐसे किसी अन्य प्रकार के रोगाणु नहीं खोजे जा सके हैं जो इतनी तेज़ी से वृद्धि करते हों। कभी-कभी तो प्रवेश के छह घंटे के भीतर ही इनकी संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि रोगाणुओं से आंतें पूरी तरह भर जाती हैं और इस कार्य में तीन दिन से अधिक समय तो इन्हें शायद ही कभी लगता हो। आंतों में रहने वाले अन्य सभी रोगाणु समाप्त हो जाते हैं और आंत कोमा-जैसे रोगाणुओं से संतृप्त हो जाती है।

कोमा-जैसे इन रोगाणुओं का मनुष्य के लिए विशेष महत्त्व नहीं है। उसकी आंतों में सदा ही किसी न किसी प्रकार के रोगाणु विद्यमान रहते हैं। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि विषूचिका-रोगाणु न तो कभी रक्त प्रवाह में प्रवेश करते हैं और न मानव मांस पर ही आक्रमण करते हैं। विज्ञान की भाषा में हैजा न तो संक्रामक ही है और न रोग ही।

प्रवेश के कुछ ही समय पश्चात् रोगाणु मरने लगते हैं और प्रत्येक रोगाणु की मृत्यु के पश्चात् आंत में जलन पैदा होती है। कुछ ही समय में करोड़ों की संख्या में रोगाणु मर जाते हैं और यह हल्की-सी जलन बढ़ते-बढ़ते तीव्र वेदना बन जाती है। रोगी को हैजा हो जाता है।

मानव शरीर में भार के हिसाब से दो तिहाई जल और प्रचुर लवण हैं और जीवन के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। रोगी का जल और लवण

शीघ्र ही कम होने लगता है और वह शीघ्र ही निढाल हो जाता है मानों कोई दैवी विपत्ति पड़ी हो। उसका शरीर जल और लवणों की कमी से तड़पता है किंतु उसका आमाशय दोनों का परित्याग कर चुका होता है। रोगी की त्वचा पर झुर्रियां पड़ जाती है, नाक नुकीली और अस्थिवत् हो जाती है, गाल पिचक जाते हैं और हड्डियां उभर आती हैं, आंखें बैठ जाती हैं, आवाज मंद हो जाती है। रोगी निराश हो जाता है और उसे मृत्यु के शीघ्र आगमन का आभास होने लगता है।

जल की मात्रा कम हो जाने से शरीर के भीतर रक्त की गतिशीलता कम हो जाती है। रक्त मंद गति से प्रवाहित होता है। रक्तचाप कम हो जाता है। हृदय की गति मंद हो जाती है। पैर और हाथों में ऐंठन होने लगती है और रोगी मूर्च्छित हो जाता है। बहुधा 12-24 घंटे के भीतर मृत्यु हो जाती है। जीवन मृत्यु में परिवर्तित हो जाता है। कल का स्वस्थ शरीर अस्थियों का ढांचा मात्र रह जाता है।

किंतु हैजा यथार्थ रोग नहीं है। हैजे का अर्थ है, जल और लवणों की कमी और यदि रोगी की शिराओं में नमकीन जल प्रविष्ट करा दिया जाये तो लगभग निश्चित रूप से सभी विषूचिका रोगी अतिशीघ्र काल-कवलित हो जाता है। गोदान का अवकाश कहां। हां, मृत्युदान अवश्य दे जाता है। एक ही रोगाणु पर्याप्त है। रोगाणु को यदि कुछ ही देर में दूसरा व्यक्ति उपलब्ध न हो जाए तो उसका बचना कठिन हो जाता है। नहीं, वाहितमल फल और सब्जियों पर वह केवल कुछ ही घंटे जीवित रह सकता है। उसे मनुष्य के अतिरिक्त दूसरे प्राणी की आंतें पसंद नहीं। विश्व में हर समय प्रत्येक घड़ी, प्रत्येक क्षण हैजे ने कोई न कोई व्यक्ति अवश्य पीड़ित रहता है अन्यथा हैजे का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। हैजा सदा के लिए समाप्त हो जायेगा।

4

इतिहास के पृष्ठों से

धर्माधिकारियों का विश्वास है कि समस्त चराचर को अदृश्य शक्ति नियन्त्रित करती है। "हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश विधि हाथ।" किन्तु चिकित्सकों का मत था कि कम से कम एक रोग अवश्य ही तारों के प्रभाव से उत्पन्न होता है और इटलीवासियों ने तो इस आधार पर उसका नामकरण ही कर दिया—इन्फ्लुएन्ज़ा।

हिप्पोक्रेट्स चिकित्सा क्षेत्र का मसीहा था। उसने एक ऐसे रोग का वर्णन किया है जो इन्फ्लुएन्ज़ा हो सकता है। किन्तु ग्रीक का सूरज ढल गया और प्रकाश का स्थान अंधकार ने ले लिया। छठी शताब्दी तक इन्फ्लुएन्ज़ा यदा-कदा प्रकट होता रहा। तथापि इस समय तक यह असली रूप में प्रकट नहीं हुआ था। टूर्स नगर में महामारी फैली और इसके बाद इन्फ्लुएन्ज़ा ने 300 वर्षों के लिए नींद की जमुहाई ले ली। रोगाणु नौवीं शताब्दी में और इसके बाद दसवीं शताब्दी में प्रकट हुए। 11वीं सदी में शांति रही किन्तु 12वीं और चौदहवीं में ऐसा न हो सका। 15वीं सदी में न्यायालय बन्द कर दिए गए। गिरजाघरों में ताले डाल दिए गए और जन साधारण को आदेश दिया गया कि वे अपने अपने घरों में बन्द रहें। सड़कों पर इन्फ्लुएन्ज़ा घूम रहा था।

लोगों ने इस अप्रत्याशित अतिथि को 'स्वेद रोग' कहा। 1485 में इंग्लैंड की ओर आती हुई ड्यूक ऑफ रिचमांड की सेना में खलबली मच गयी। सैनिकों को ठंड लगी, ज्वर हो गया, दुर्बलता आई और समूचे शरीर से पसीना गिरने लगा। कुछ, कुछ घंटे जीवित रहे, कुछ 24 घंटे,

और शेष ठीक हो गए।

सैनिक घबरा उठे, जलपोत के दड़बों से निकलकर डैक पर आ गए, किन्तु बच न सके। अंधेरे में भी मौत थी और उजाले में भी। जलयान का लंगर डाल दिया गया। जो चलने योग्य थे, भाग निकले और जब घर पहुंचे तो समाचार जानकर बौखला उठे। मृत्यु मुंह बाये उनकी राह देख रही थी। घरों के कपाट खुले पड़े थे। कब्रिस्तान में भीड़ लगी थी।

'तीन सतावें निस कही पातक राजा रोग'—किन्तु रहीम की बात सही नहीं निकली। लार्ड मेयर, उनके उत्तराधिकारी और छह लार्ड सबसे पहले प्रभावित हुए और सबसे पहले मरे।

उच्च और मध्यम वर्ग के लोग सबसे अधिक घाटे में रहे। अधिकांश रोगाणु दुर्बलों, वृद्धों और रोगियों को प्रभावित करते है किन्तु इस रोग के रोगाणु युवा और स्वस्थ लोगों को अधिक पसन्द करते रहे हैं।

केवल इंग्लैंड प्रभावित हुआ। अनेक नगरों की आधी आबादी साफ हो गई। कुछ गांव पूरी तरह बर्बाद हो गए। झोपडियों और महलों में दीपक तक जलाने वाले न बचे। स्कॉटलैंड और आयरलैंड में रोग फैला ही नही। रोगाणु केवल अंग्रेजों का शिकार करते। विदेशियों की ओर उन्होने आंख तक उठाकर नहीं देखा। रोगाणु फ्रांस चले लेकिन फ्रांसीसियों का कान तक गरम न हुआ और अंग्रेजों की नाक बह निकली। रोग ने अंग्रेजों को फ्रांस में जा दबोचा था। इन फिरंगी रोगाणुओं ने अंग्रेजों पर उस समय तक आक्रमण जारी रखा, जब तक अंग्रेज प्रतिरोध करते रहे। पचास वर्षों मे इंग्लैंड पर चार बार आक्रमण हुआ। अन्त मे अंग्रेजों ने हाथ उठा दिए। रोगाणु लौट गये, कभी न लौटने के लिए।

रोगाणु इंग्लैंड को छोड़कर मुख्य भूमि की ओर चले। 1528 में 'स्वेद रोग' ने रौद्र रूप धारण कर लिया। योरुप त्राहि-त्राहि कर उठा। नगर और ग्राम खाली होने लगे। अंग्रेज योरुप मे मजे से घूम रहे थे किन्तु रोगाणुओं और अंग्रेजों की संधि हो चुकी थी। इस रोग में योरुप तबाह हो गया किन्तु अंग्रेज विरला ही रोगग्रस्त हुआ।

1528 में रोगाणुओं ने इंग्लिश चैनल पार की किन्तु फ्रांसीसियों की ओर आख तक उठाकर न देखा। चार सप्ताह पश्चात् हालैण्ड ग्रसित हो गया। रोगाणुओं ने जीत का उद्घोष करते हुए आस्ट्रिया में प्रवेश किया, किन्तु तुर्क सेना पहले ही वीयना में मौत का खेल खेल रही थी। आस्ट्रियावासी नतमस्तक थे। इसलिए लड़ाई तुर्क और रोगाणुओं में हुई। तुर्क बहादुर थे, किन्तु मौत से टक्कर न ले सके। मुर्दे जीवितों से बाजी मार ले गए। सेना में भगदड़ मच गई। वीयनावासियों ने मुर्दों को इकट्ठा कर दिया। तम्बू खोलकर घर ले गये और अपने काम में लग गये। फिर भी वीयनावासी स्वस्थ और रोगमुक्त थे।

इन्फ्लुएन्ज़ा के विस्फोट होते रहे और इन्हें दैवी विपत्तियों से सम्बन्धित किया जाता रहा। रोग के वर्णन के साथ-साथ भूचालों, उल्का-पातों, ज्वालामुखियों का वर्णन करने की परम्परा चल गई थी। डा० शार्ट ने दैवी संकेतों का गहन अध्ययन किया। डा० मीज ने इसका विशद वर्णन किया और डा० हैमिल्टन ने इन्फ्लुएन्ज़ा को बिजली गिरने से सम्बद्ध कर दिया।

उसने बताया कि बिजली कड़कते ही सेना की तीन कम्पनियां एकदम रोगग्रस्त हो गई और अनेक सप्ताहों तक स्वास्थ्य-लाभ न कर सकी। उसने निष्कर्ष निकाला कि बिजली कड़कने से इन्फ्लुएन्ज़ा हो जाता है। तभी उसने एक और बात बतायी। बार-बार चाय पीने से शरीर कमज़ोर हो जाता है—चाय कृशता उत्पन्न करने वाला पेय है। तन्त्रिका तन्त्र के लिए हानिकारक है। चाय पीने से इन्फ्लुएन्ज़ा हो जाता है। इस बीच डा० हन्टर ने एक 'महान' अनुसंधान कर लिया था। उसने इन्फ्लुएन्ज़ा के उपचार का पता लगा लिया था। गर्म पानी में उबालकर तम्बाकू का सत्व निकाल लो और दिन में तीन या अधिक बार एक मग सत्व का सेवन करो—इससे निश्चित रूप से लाभ हो जाएगा और रोग का पुनः प्रकोप रुक जाएगा। दुर्भाग्य से अन्य चिकित्सक इस अमूल्य अनुसन्धान का लाभ न उठा सके, क्योंकि तम्बाकू के सत्व से केवल डा० हन्टर ही

'उपचार' कर सकता था।

19वीं शताब्दी में इन्फ्लुएन्ज़ा गहरे लाल बादलों से होने वाली रक्त-वर्ण वर्षा और रक्ताभ हिमपात से होने लगा। वैज्ञानिकों ने देखा कि महामारी फैलने के पूर्व चूहों का रक्त अधिक लाल हो जाता था और मछलियां अधिक संख्या में मरती थीं। चीटियां अधिक उत्पात करती थीं। गाजरों में कीड़े लग जाते थे और कूड़े के ढेर के आसपास मक्खियों की लाश जमा हो जाती थी।

1899 में लोगों ने अचानक खाँटा पकड़ ली। इन्फ्लुएन्ज़ा से मरने वालों के लिए प्रतिदिन हज़ारों-लाखों कब्रें खोदी जातीं। ग्रीनलैण्ड के एस्किमो, साइबेरिया के रूसी, योरोपियन, एशिया और अमेरिकावासी सभी समान थे। इस बार इन्फ्लुएन्ज़ा ने साम्प्रदायिकता को महत्त्व नहीं दिया था। रोगाणु धर्म-निरपेक्ष, जाति-निरपेक्ष और राष्ट्र-निरपेक्ष हो गए थे। यह विश्व भ्रातृत्व का युग था। करोड़ों लोग जान से हाथ धो बैठे।

चिकित्सक, वैज्ञानिक, इतिहास वेत्ता, गणितज्ञ, ज्ञानी और मूर्ख सभी अनुसन्धान कर रहे थे। सभी ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। सभी ने इन्फ्लुएन्ज़ा के कारण और उपचार का पता लगा लिया था।

"वातावरण में ओज़ोन की मात्रा बढ़ जाने से इन्फ्लुएन्ज़ा हो जाता है।"

"दूषित जलवायु से इन्फ्लुएन्ज़ा होता है।"

"पराग कण सूंघने से इन्फ्लुएन्ज़ा हो जाता है।"

"ज्वालामुखी की धूलि से इन्फ्लुएन्ज़ा फैलता है।"

गणितज्ञों ने अपने आंकड़े प्रस्तुत किए। इन्फ्लुएन्ज़ा प्रति 10 वर्ष पश्चात् होता है। नहीं, 15 वर्ष पश्चात्, 20 वर्ष, 35 वर्ष, 55 वर्ष। आंकड़ों की संख्या इतनी अधिक थी कि इन्फ्लुएन्ज़ा चाहे कभी भी क्यों न हो, कुछ लोगों की बात तो सही निकलती होती। डा० पीफर ने इन्फ्लुएन्ज़ा के रोगाणुओं का पता लगा लिया था और बाद में पता चला कि उनसे

इन्फ्लुएन्ज़ा होता ही नही है।

इन्फ्लुएन्जा ने 1918 में समूचे विश्व के दरवाज़े एक साथ खटखटा दिए। संयुक्त राज्य अमेरिका में 2 करोड़ लोग रोगग्रस्त हुए और 5 लाख खेत रहे। अकेले भारत में कम से कम 50 लाख लोग काल के ग्रास बने। विश्व मे लगभग 20 करोड लोगो ने एक साथ छींका और इस अपशकुन के कारण सवा दो करोड लोग परलोकवासी हो गए।

इन्फ्लुएन्ज़ा-रोधी वैक्सीन तैयार की गई। मज़े की बात यह कि जिन लोगों को इस वैक्सीन का टीका लगा दिया गया उन्हें इन्फ्लुएन्ज़ा हो गया। अनेक शहरो में विद्यालय और मनोरंजनगृह बन्द कर दिए गए। सभाओ पर पाबन्दी लगा दी गई। सेनफ्रांसिस्को में तो सभी लोगों को नकाब पहनने के आदेश जारी कर दिए गए। किन्तु इन सभी विरोधों के बावजूद इन्फ्लुएन्ज़ा निर्विरोध फैलता रहा। अलास्का में सभी नागरिकों को नीला बाजूबन्द पहनाया गया। हेमबर्ग मे ताबूतों और कफन की कमी पड गई। जूट के बोरो मे भरकर लाशें बाहर जमा कर दी गयी। इस बार दफनाने की फ़ुर्सत नही थी।

इन्फ्लुएन्ज़ा में रोगाणुओं से सम्बन्धित अनुसंधान 1933 में पूरा हुआ। ये सेम की आकृति के सूक्ष्म विषाणु हैं। इन्हें टाइप 'ए' और टाइप 'बी' कहा गया। सम्भवतः कुछ अन्य टाइप भी हों। ऐसे अनुसन्धान पहले भी कई बार किए गए हैं और विषाणुओं ने वैज्ञानिकों को हर बार धोखा दिया है। इन विषाणुओं को भी समय-समय पर मानव शरीर में प्रविष्ट कराया गया है किन्तु कभी इन्फ्लुएन्ज़ा हो जाता है और कभी बिलकुल नही होता। इन्फ्लुएन्ज़ा आज भी एक उलझी हुई पहेली है। और है, आधुनिक विज्ञान के लिए एक चुनौती।

5

कहीं आप तो नहीं हैं

मध्यकालीन चिकित्सक केवल दो प्रकार के ज्वरों से परिचित थे—अल्पकालिक और दीर्घकालिक। उनके विचार से टाइफायड एक दीर्घकालिक ज्वर था और इसकी चिकित्सा भी अन्य दीर्घकालिक ज्वरों की भांति ही की जाती थी। उस समय मनुष्य के सभी रोगों की चिकित्सा रक्त निकालकर की जाती थी और टाइफायड की चिकित्सा के लिए शरीर में कम से कम 35 स्थानों से रक्त निकालना होता था। 1833 में अकेले फ्रांस में विदेशों से सवा चार करोड़ जोंक आयात की गई थीं। चिकित्सक मनु की सन्तानों का रक्त जोंकों को पिलाया करते थे।

फ्रांस के प्रसिद्ध चिकित्सक डा० ब्रुसेस का मत था कि कोई भी रोग संसर्ग से नहीं फैलता। स्वस्थ मनुष्य के भीतरी अंगों पर तेज गरमी का असर हो जाता है जिससे भीतरी अंगों में जलन होने लगती है, रोग सदा इन्हीं अंगों से उत्पन्न होता है। बाहर से कोई रोग नहीं लगता। भीतरी जलन और गर्मी कम करने के लिए रोगी का रक्त निकालना आवश्यक है। भारत में आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो यह समझते हैं कि सभी रोग पेट की खराबी से होते हैं और सींगी लगाने से ठीक हो जाते हैं।

19वीं शताब्दी तक टाइफस और टाइफायड को एक ही रोग समझा जाता रहा। ब्रिटान्यू ने 1826 में पहली बार इस तथ्य का उल्लेख किया कि एक विशेष प्रकार के टाइफस ज्वर में आंतों में ज़ख्म हो जाते हैं। किन्तु इसे भ्रम के खाते में डाल दिया गया। कई वर्ष के लगातार परिश्रम के पश्चात् उनका एक विद्यार्थी यह पता लगाने में सफल हो गया कि टाइफायड

इन्फ्लुएन्जा होता ही नही है।

इन्फ्लुएन्जा ने 1918 में समूचे विश्व के दरवाजे एक साथ खटखटा दिए। संयुक्त राज्य अमेरिका मे 2 करोड लोग रोगग्रस्त हुए और 5 लाख खेत रहे। अकेले भारत मे कम से कम 50 लाख लोग काल के ग्रास बने। विश्व मे लगभग 20 करोड लोगो ने एक साथ छीका और इस अपशकुन के कारण सवा दो करोड लोग परलोकवासी हो गए।

इन्फ्लुएन्जा-रोधी वैक्सीन तैयार की गई। मजे की बात यह कि जिन लोगों को इस वैक्सीन का टीका लगा दिया गया उन्हें इन्फ्लुएन्जा हो गया। अनेक शहरों मे विद्यालय और मनोरंजनगृह बन्द कर दिए गए। सभाओं पर पाबन्दी लगा दी गई। सेनफ्रांसिस्को में तो सभी लोगों को नकाब पहनने के आदेश जारी कर दिए गए। किन्तु इन सभी विरोधों के बावजूद इन्फ्लुएन्जा निर्विरोध फैलता रहा। अलास्का में सभी नागरिकों को नीला बाजूबन्द पहनाया गया। हेमबर्ग मे ताबूतों और कफन की कमी पड गई। जूट के बोरो मे भरकर लाशें बाहर जमा कर दी गयी। इस बार दफनाने की फुर्सत नही थी।

इन्फ्लुएन्जा में रोगाणुओं से सम्बन्धित अनुसधान 1933 में पूरा हुआ। ये सेम की आकृति के सूक्ष्म विषाणु हैं। इन्हें टाइप 'ए' और टाइप 'बी' कहा गया। सम्भवतः कुछ अन्य टाइप भी हो। ऐसे अनुसन्धान पहले भी कई बार किए गए है और विषाणुओं ने वैज्ञानिको को हर बार धोखा दिया है। इन विषाणुओं को भी समय-समय पर मानव शरीर मे प्रविष्ट कराया गया है किन्तु कभी इन्फ्लुएन्जा हो जाता है और कभी बिलकुल नही होता। इन्फ्लुएन्जा आज भी एक उलझी हुई पहेली है। और है, आधुनिक विज्ञान के लिए एक चुनौती।

5

कहीं आप तो नहीं हैं

मध्यकालीन चिकित्सक केवल दो प्रकार के ज्वरो से परिचित थे—अल्पकालिक और दीर्घकालिक। उनके विचार से टाइफायड एक दीर्घ-कालिक ज्वर था और इसकी चिकित्सा भी अन्य दीर्घकालिक ज्वरों की भांति ही की जाती थी। उस समय मनुष्य के सभी रोगों की चिकित्सा रक्त निकालकर की जाती थी और टाइफायड की चिकित्सा के लिए शरीर में कम से कम 35 स्थानों से रक्त निकालना होता था। 1833 में अकेले फ्रांस में विदेशों से सवा चार करोड़ जोक आयात की गई थीं। चिकित्सक मनु की सन्तानों का रक्त जोंकों को पिलाया करते थे!

फ्रांस के प्रसिद्ध चिकित्सक डा० ब्रुसेस का मत था कि कोई भी रोग संसर्ग से नहीं फैलता। स्वस्थ मनुष्य के भीतरी अंगों पर तेज गरमी का असर हो जाता है जिससे भीतरी अंगों में जलन होने लगती है, रोग सदा इन्हीं अंगों में उत्पन्न होता है। बाहर से कोई रोग नहीं लगता। भीतरी जलन और गर्मी कम करने के लिए रोगी का रक्त निकालना आवश्यक है। भारत में आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो यह समझते हैं कि सभी रोग पेट की खराबी से होते हैं और सींगी लगाने से ठीक हो जाते हैं।

19वीं शताब्दी तक टाइफस और टाइफायड को एक ही रोग समझा जाता रहा। ब्रिटान्यू ने 1826 में पहली बार इस तथ्य का उल्लेख किया कि एक विशेष प्रकार के टाइफस ज्वर में आंतों में जख्म हो जाते हैं। किन्तु इसे भ्रम के खाते में डाल दिया गया। कई वर्ष के लगातार परिश्रम के पश्चात् उनका एक विद्यार्थी यह पता लगाने में सफल हो गया कि टाइफायड

और टाइफस दो परस्पर भिन्न व्याधियां हैं किन्तु वैज्ञानिक उससे सहमत न थे और उसका बार-बार मज़ाक उड़ाया गया।

पैटनकाफर का मत था कि भूमि की सतह के नीचे पानी का तल यदि ऊंचा होकर अचानक नीचा हो जाए तो टाइफायड ज्वर फैल जाता है। बैनट का विश्वास था कि फूलों की गंध सूंघने वालों को टाइफायड हो जाता है। सूवा का कहना था कि टाइफायड सड़ी हुई खाल सूंघने से होता है। मर्चिसन ने तो औषधि का भी पता लगा लिया था। उसका कहना था कि जैविक पदार्थ के सड़ने से टाइफायड फैलता है। रोगी को यदि गर्म पानी में स्नान कराया जाए और रोगी के कूल्हे पर 2-6 जोंक लगा दी जाएं तो तुरत फायदा हो सकता है! रोग का संसर्ग सिद्धान्त प्रतिपादित करने वालों को उसने ठेठ गंवार की संज्ञा दी!

रोगाणु बदनामी की परवाह किए बिना दिन-प्रति दिन बढ़ते रहे। उन्हें मानव शरीर में फलना-फूलना था, उन्हीं को पीड़ित करना था और अन्त में अपने ही घोंसले में आग लगानी थी। वे मुख के रास्ते प्रवेश करते और आंतों में चले जाते। जीवित कोशिकाओं को बेध देते और अपनी संख्या बढ़ाने लगते। वे कोशिका के जीवनदायक पदार्थ को अपने पोषण के लिए इस्तेमाल करते और आंतो की परत की कोशिकाएं एक-एक करके नष्ट हो जाती। शीघ्र ही एक छिद्र बन जाता और इसके बाद एक फुंसी। दो तीन सप्ताह में इनकी संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती और टाइफायड ज्वर आने लगता। यह प्रक्रिया अनन्त काल से चल रही है। आज भी ऐसा ही होता है।

इसके बाद रोगाणु रक्त प्रवाह में चले जाते हैं। ये शरीर के प्रत्येक अवयव में पहुंच जाते हैं। सिरदर्द प्रारम्भ हो जाता है। पीड़ा बढ़ती जाती है। फिर सर्दी और बाद में ज्वर, रोगी चारपाई पर लेटने के लिए मजबूर हो जाता है। एक सप्ताह तक ज्वर शनैः-शनैः बढ़ता है। रोगाणुओं की संख्या बढ़ने पर ज्वर और तेज़ हो जाता है और दूसरे सप्ताह में सर्वाधिक तेज़ होता है। लगता है बुखार अब नहीं छूटेगा। नाक से खून जाने लगता है,

होंठ शुष्क हो जाते हैं और चटखने लगते हैं। पानी से तृष्णा शांत नहीं होती और बार-बार प्यास लगती है। इस बीच रोगाणु मस्तिष्क में प्रवेश कर जाते हैं और रोगी निराश हो जाता है। वह या तो गुम हो जाता है या बौखलाने लगता है। विषाक्त मस्तिष्क का पागलपन बहुधा एक नवीन रूप धारण कर लेता है। रोगी चिल्लाकर कहता है कि उसे कोई रोग नहीं है। उसे दवा की जरूरत नहीं है। अब वह पूरी तरह ठीक हो गया है और ऐसे 'ठीक' रोगी बहुधा मर जाते हैं। शरीर पर जहां कहीं रोगाणुओं ने आक्रमण किया था वहां चमकीले लाल धब्बे बन जाते है और रोगाणुओं के प्रवास के समय ये 'गुलाबी तम्बू' लुप्त हो जाते है। दूसरा सप्ताह बीत गया, किन्तु बुखार मौजूद रहता है।

तीसरे सप्ताह के अन्त मे यदि बुखार न टूटा तो बस मुसीबत समझिए। ईश्वर को अब कुछ और ही अभीष्ट है। महत्त्वपूर्ण अंग प्रभावित हो जाते हैं और मृत्यु लगभग निश्चित है। समूची 19वी शताब्दी में यही हालत रही और महामारी बराबर फैलती रही, कभी शिकागो, फिलाडेल्फिया और न्यूयार्क में और कभी बर्लिन, पेरिस तथा वियना में।

जीवाणु प्रयोगशालाओं मे रात-दिन बत्तियां जलती रहीं। वैज्ञानिक लगातार 'शून्य' से जूझते रहे किंतु बीसवी शती के प्रारम्भ में ही सब कुछ स्पष्ट हो गया। वाहितमल, गंदा जल, दूषित भोजन, संक्रमित मक्खियां और दूध आदि उनके प्रजनन स्थल और उनके फैलने की विधि, सभी कुछ ज्ञात हो चुका था किन्तु रोगाणु मौज ले रहे थे। फौजी कैम्प, फार्म, स्वास्थ्य घर और घूमने-फिरने के स्थान, शयन कक्ष और घर की रसोई सभी कुछ इनकी पहुंच के भीतर थे।

न्यूयार्क में इस अवांछित अतिथि का प्रति वर्ष आगमन होता और हजारों इसके साथ विदा हो जाते। चिकित्सकों और चिकित्सालयों की मौजूदगी मे, खान-पान में अत्यधिक सफाई रखने पर, और यहां तक कि स्वास्थ्य-रक्षा, स्वच्छता और अलगाव के सभी नियमों का पालन करने पर भी अकेले न्यूयार्क में 1906 में टाइफायड से 4000 पीड़ित हुए और इनमें

से एक-चौथाई चल बसे। चिकित्सक और जीवाणु वैज्ञानिक चिन्तित थे किन्तु आंकड़ों का अध्ययन करने पर एक बड़ी मज़ेदार बात मालूम हुई अर्थात रोग प्रत्येक बार रईस घरानों से प्रारम्भ होता था, जबकि सफाई वहा अपेक्षाकृत अधिक रखी जाती थी। जीवाणु वैज्ञानिक और चिकित्सक परेशान थे। शायद अनुसन्धान में कोई महत्त्वपूर्ण बात छूट गई थी! संभवतः रोग संसर्गी था ही नही और सम्भवतः रोगाणुओं से उत्पन्न ही नही होता था। विश्व के अनेक वैज्ञानिकों के सिद्धान्तों को प्रयोगशाला की देखरेख में टाइफायड हो गया और वे निर्जीव हो चले। इस बार फिर वाहितमल की ओर ध्यान गया। रोग वाहितमल की गैस से होता है। किन्तु दूसरे वैज्ञानिकों का विचार था कि वाहितमल जब भूमि से रगड़ खाता है तो एक विषैली गैस निकलती है जिसके सूंघने से टाइफायड हो जाता है!

तुरन्त एक कमीशन नियुक्त किया गया। वाहितमल के नमूने लिए गए। इसकी गैस का अध्ययन किया गया, परखनली में डाला गया, विश्ले-षण किया गया और गिनीपिग को इसका इंजेक्शन लगाया गया किन्तु बेकार! टाइफायड के दर्शन तक न हो सके।

अब आंकड़ों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। अचानक एक रोचक बात सामने आई। 1900 में न्यूयार्क का एक परिवार टाइफायड के पंजे में फंस गया था। 1901 में एक दूसरा परिवार और 1902 में तो न्यूयार्क के समीप के गांव में सदस्यों का एक परिवार मौत के मुंह से बड़ी कठिनाई से निकल सका। सभी को टाइफायड था। 1905 में रोग का भयंकर विस्फोट हुआ और पता चला कि इस बार भी शुरुआत एक ही घर से हुई थी जहां मैरीमैलन नामक महिला रसोई बनाने के लिए नियुक्त की गई थी। 1904 में फिर अचानक एक ऐसे घर से रोग प्रारम्भ हुआ जहां मैरीमैलन नियुक्त थी। 1905 में भी यही क्रम जारी रहा, किन्तु 1906 में अचानक स्थिति गम्भीर हो गई। साग आइलैण्ड के एक परिवार ने मित्रों को दावत दी। इसमें मैरीमैलन ने अपने हाथों से बनायी हुई

अधिक भयावह थी।

आज भी न जाने ऐसे कितने स्वस्थ रोगी हैं, जो जीवन के भीतर मृत्यु छिपाए घूम रहे हैं। मौका लगते ही रोगाणु इनके शरीर से निकल कर स्वस्थ लोगों में प्रविष्ट हो जाते हैं। आधुनिक विज्ञान के इस युग में अन्तर्निहित रोगाणुओं को नष्ट करने के लिए अनेक प्रभावशाली औषधियां इस्तेमाल की जा चुकी हैं। टीके लगाए गए हैं, एन्टीबायोटिक औषधियां, आयोडीन, आर्सेनिक, मेलिसिलेट, थाइमोल और यहां तक कि चारकोल और क्लोरोफार्म भी इस्तेमाल किये गये हैं किन्तु रोगाणु वाहक के शरीर के भीतर छिपे ये गुरिल्ले नष्ट नहीं हो सके हैं। ये चिकित्सकों, वैज्ञानिकों और औषधियों का निरन्तर मजाक उड़ाते हैं और इस इन्तजार में हैं कि युद्ध, भूचाल, बाढ़ या अन्य कोई ऐसी ही विपत्ति आ जाए और ये दिखा सकें कि महाराज यम की ये कितनी सेवा कर सकते हैं। सावधानी ही इनकी मूल चिकित्सा है। आप बचकर रहिए, समाज से, पड़ोस से, स्वयं अपने घर के लोगों से।

6

सभ्यता के आंचल से

भीड़-भाड़ में रहें तो मन लगा रहता है। यह भी कोई जीवन है कि एक मनुष्य अकेला खेतों में हल चला रहा है। दूसरा आबादी से दूर पशु चरा रहा है और तीसरे ने शहर के शोरगुल से दूर जंगल में रहना प्रारम्भ कर दिया है। कोठी को नजर न लग जाए इसलिए उसने इसके चारों ओर पेड़-पौधे और फूलदार झाड़ियां लगवा दी हैं। पुष्प वाटिका हो या अशोक वाटिका, ये सब रहने योग्य स्थान हो ही नहीं सकते और ठीक यही आदत यक्ष्मा के रोगाणुओं की भी है। एकान्त इन्हें पसन्द नहीं। ये सामाजिक प्राणी हैं। ये केवल वहीं पनपते हैं, जहां समाज की भीड़-भाड़ हो, और जनसंख्या सघन हो। रहने के लिए यदि स्थान न हो तो इन्हें और भी अधिक सुविधा रहती है। इन्हें सरलता से स्थान उपलब्ध हो जाता है।

यक्ष्मा सभ्य रोग है। सभ्यता और रोगाणुओं का चोली दामन का साथ है। सभ्यता के उत्थान के साथ रोगाणुओं में निखार आया और सभ्यता के पतन के साथ ये दुर्बल होते गए। इनकी संख्या कम हो गई। सभ्यता लुप्त हो गई—रोगाणु लुप्त हो गए।

रोमन साम्राज्य के प्रसार के साथ-साथ ये फैलते चले गए। किन्तु, साम्राज्य के भीतर के गद्दारों और हृदयहीन आक्रामकों ने जब साम्राज्य ही समाप्त कर दिया तो रोगाणु जी कर क्या करते। टूटी-फूटी दीवारें, जले हुए मकान और काली छतें भी कोई रहने की जगह है। कुछ बच भी गए तो वे तेजी से बढ़ते हुए खरपतवारों, खुले आकाश और ताजी हवाओं में लुप्त हो गए।

मध्य युग मे एक बार फिर सभ्यता ने उभार लिया। शहर बसे, बाजार लगे। कल-कारखानों का शोर सुनाई देने लगा और रोगाणु फलने-फूलने लगे। यक्ष्मा के रोगाणु हैजा, प्लेग या चेचक आदि के रोगाणुओं की तरह तो है नही कि हृदयहीन फौजी घुड़सवारों की तरह दौड़ते हुए जनता मे घुस गए और कुछ ही देर मे सब कुछ बर्बाद करके आगे बढ गए। ये शाही चाल से ठीक राजाओं और सम्राटों की तरह मन्द गति से चलते हैं। इसलिए यह रोग बहुधा राजरोग कहलाता है। पथिक थका हुआ रात भर धर्मशाला या सराय मे खांसता रहा। मुंह में आया कफ और लाल धब्बे पोंछकर फेंकता रहा। दूसरे लोग सहवास का थोडा सा इनाम लेकर चले और शनैः-शनैः कमजोर होने लगे। हृष्ट-पुष्ट शरीर का मांस और रक्त लुप्त होने लगा। रक्तहीन अस्थियों और जोड़ो के ऊपर त्वचा का पीलापन बढता गया और ऊपर से खांसी। यह सब न कभी एक दिन मे हुआ है और न होगा।

लोगों का विश्वास था—यक्ष्मा दैवी विपत्ति है। कुकर्मों का फल है। घर मे एक आदमी जिस प्रकार घुट-घुट कर मरा है, ऐसे ही शेष भी मरेंगे। ईश्वर का प्रकोप सबको नष्ट करके रहेगा। रोग लक्षण प्रकट होने का अर्थ है कि अब रोगी को ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए और अन्त समय का इन्तजार करना चाहिए। चिकित्सकों की औषधियो से कभी किसी को लाभ नही हुआ था। किन्तु फिर भी वे रोगी का दूषित रक्त निकालते रहे और उसके जख्मो पर जोंक चिपकाते रहे।

यक्ष्मा के रोगाणु सूक्ष्मदर्शी (यंत्र) में सरलता से देखे जा सकते हैं। ये जंजीर की बारीक कड़ियों के रूप में दिखाई पडते हैं और कभी वक्रित एवं बहुधा समूहो मे मिलते हैं। प्रत्येक रोगाणु के ऊपर चिकना मोम जैसा कवच होता है। शरीर में प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था की है कि अवांछित पदार्थों और रोगाणुओं से बचाव हो सके, किन्तु ये कवच-युक्त रोगाणु सदा ही बच निकलते हैं और बिना किसी बाधा के हमारे शरीर के पहरे-दारो को धोखा देते हुए सीधे फेफड़ों में पहुंच जाते है और एक जीवित

कोशिका से दूसरी जीवित कोशिका में प्रविष्ट होते रहते हैं।

अन्त में रोगी को अपने भीतर छिपे इस घातक विष का पता चल जाता है, किन्तु तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। यक्ष्मा से बहुधा शीघ्र मृत्यु हो जाती है किन्तु कभी-कभी रोग चलता रहता है। न रोगी मरता है और न जीवित रहता है। उसका शेष जीवन रोगशैया पर बीत जाता है और इस बीच वह रोगाणुओं का दान करता रहता है। कभी रोगाणु गुप्त हो जाते हैं। अपने चारो ओर एक कठोर आवरण बना लेते हैं और वहीं जीवित रहते हैं। लोग समझते हैं कि यक्ष्मा का उपचार हो गया है।

शरीर में कुछ थोड़े से जीवित, किन्तु निष्क्रिय रोगाणु विद्यमान रहें तो लाभ होता है, क्योंकि यदि रोगाणु शरीर में पहले से मौजूद हों तो नये रोगाणु आक्रमण नहीं करते। किसी की सुरक्षित सीट पर कौन बैठे ? किन्तु नये रोगाणु जब शरीर पर आक्रमण करते हैं तो रोग जंगल की आग की भांति फैलता है। श्वेत लोगों के यक्ष्मा रोगाणु जब काले लोगों के सम्पर्क में आए, तो शहर खाली होते चले गए। नीग्रो, पोलीनेशियन, एस्किमो और अमरीकी इंडियनों ने इन तथाकथित श्वेत लोगों से भारी नुकसान उठाया है। सीधे-सादे लोगों पर जब भी इन सभ्य रोगाणुओं ने आक्रमण किया है, इन्होंने सदा ही भयंकर शोषण किया है—आर्थिक, भौतिक, धार्मिक, राजनैतिक और सबसे ऊपर शारीरिक।

सन् 1882 में डॉ० राबर्ट कॉख ने यक्ष्मा के रोगाणुओं का पता लगाया। यह मानव जाति की बहुत बड़ी विजय थी, किन्तु तभी दुर्भाग्य आ टपका। इसके बाद कॉख ने रोगाणुओं के साथ जो कुछ भी किया, रोगाणुओं ने उसे भयंकर धोखा दिया। कॉख को सदा बदनामी हाथ लगी, सामाजिक उत्पीड़न, मानसिक ग्लानि, वैज्ञानिक व्यंग्य और धार्मिक घृणा।

1890 में कॉख ने परखनली से ऐसा विलक्षण पदार्थ प्राप्त कर लिया जो स्वच्छ जल के समान था और गिनीपिग में इन्जेक्शन लगाने पर इससे कोई हानि नहीं होती थी। आश्चर्य ! यक्ष्मा से पीड़ित गिनीपिग रोग-मुक्त हो गए। 'ट्यूबरकुलिन' का अन्वेषण मानव की महान् विजय थी !

यक्ष्मा का इलाज मिल गया था ! अब यक्ष्मा से कोई नहीं मरेगा ! महान ? कॉख महान है ! जर्मन स्वास्थ्य विभाग उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा जब यक्ष्मा का इलाज करने वाली शीशियां बाजार मे बिकेंगी और उन पर लेबिल लगा होगा—पूर्णतः जर्मन में निर्मित। कॉख को आदेश हुआ कि वह अपनी खोज प्रकाशित न कराए।

कॉख दुःखी था। रोगियो की चीत्कार उसके हृदय में तीर की भांति चुभ रही थी। उसे नींद कहां ? उसे विश्राम कहा ? और 1891 मे कॉख ने अपनी खोज प्रकाशित कर दी। उसका दावा था, "मेरी ट्यूबरकुलिन जहा कही भी जाएगी यक्ष्मा समाप्त हो जाएगी। यह रोगाणुओं को नष्ट कर देगी और क्षत शरीर को ठीक कर देगी। वह दिन दूर नहीं हैं जब यक्ष्मा के रोगाणु संसार से इस प्रकार लुप्त हो जाएगे जैसे गधे के सिर से सीग।"

कॉख चिकित्सा विज्ञान का मसीहा था। चिकित्सा जगत् के देवदूतों से उसकी तुलना की गई। उसे ईसामसीह के बराबर सम्मान दिया गया। विश्व भर के यक्ष्मा रोगी बर्लिन की सीध मे चल पड़े—खांसते, कराहते, हाथ में रक्त मिश्रित कफ पोंछते और मृत्यु से संघर्ष करते हुए—जीवन की तलाश में ! मसीहा की तलाश मे ! मृत्युंजयी कॉख की तलाश मे। किन्तु यह क्या ? ट्यूबरकुलीन का इन्जेक्शन लगाते ही रोगी पीड़ा से चीख उठता, तुरन्त समाप्त हो जाता। जीवित केवल वे रहे जिन्हें इन्जेक्शन नहीं लग सका था; बाद में मरने के लिए।

रोगाणुओं ने कॉख को भयंकर धोखा दिया था। गिनीपिग मे टीका लगाते ही रोग तुरन्त समाप्त हो जाता था, किन्तु मनुष्य तो गिनीपिग नहीं हो सकते। विस्मयजनक बात तो यह थी कि मानव में ट्यूबरकुलिन यक्ष्मा को बिलकुल प्रभावित नहीं करता, अपितु एक तीव्र कायिक प्रति-क्रिया उत्पन्न करता है, जिससे मूर्च्छा, ज्वर, पीड़ा और शीघ्र मृत्यु हो जाती है। रोगी के रोगाणु यथावत् बने रहते हैं, किन्तु ऊतक नष्ट होने लगते हैं। रोगाणु से प्रभावित ऊतक तो और भी शीघ्र नष्ट हो जाते

तथा विघटित पदार्थ रक्त प्रवाह में तैरने लगता, जिससे रक्त विषाक्त हो जाता, रोगी को आघात पहुंचता, ज्वर तीव्र हो जाता और शीघ्र मृत्यु हो जाती। शरीर में प्रसुप्त रोगाणु एकदम सक्रिय हो जाते और समूचे शरीर को घेर लेते। जनसंख्या कम करने और मृत्यु का शीघ्र आह्वान करने वाली इस औषधि की खोज करने के पुरस्कार स्वरूप कॉख को 'कातिल' की उपाधि से विभूषित किया गया। अंत में विरोध शांत हुआ। दुखियों के आंसू सूख गए, निन्दा का तूफान कम हो गया, अपशब्द कहते-कहते लोगों के गले बैठ गए। और तब तक कॉख 'ट्यूबरकुलिन आर' नामक एक उन्नत किस्म की ट्यूबरकुलिन की खोज कर चुका था। किन्तु अब तक कॉख के नाम का जादू समाप्त हो चुका था। श्रद्धा का स्थान घृणा ने लिया था। विश्वास के स्थान पर अविश्वास विराजमान था। चिकित्सा जगत् ने भी सावधान रहना सीख लिया था।

कॉख की वैक्सीन आज भी जीवित है और पी पी डी, परिशुद्ध प्रोटीन व्युत्पन्न, के नाम से विख्यात है। अब यह यक्ष्मा के उपचार के लिए प्रयुक्त नहीं की जाती है अपितु यक्ष्मा के निदान के लिए प्रयुक्त की जाती है और वह भी बहुत ही सावधानी के साथ।

यक्ष्मा के रोगाणुओं ने कॉख को एक बार फिर धोखा दिया। कॉख को न जाने कैसे यह भ्रम हो गया कि गोपशुओं और मनुष्य में यक्ष्मा उत्पन्न करने वाले रोगाणु एक ही हैं और उनमें यदि कोई भिन्नता है भी तो वह केवल इसलिए है कि मनुष्य और गोपशुओं के मांस में भिन्नता होती है। और बाद में जब उसने स्वीकार कर लिया कि दोनों रोगाणु भिन्न होते हैं तो रोगाणुओं ने उसे एकबार फिर धोखा दिया। कॉख ने कहा कि गोपशुओं के रोगाणु केवल गोपशुओं को प्रभावित कर सकते हैं और मनुष्यों के यक्ष्मा रोगाणु केवल मनुष्यों को।

प्रश्न यह था कि क्या गोपशुओं की यक्ष्मा पर अनुसंधान की आवश्यकता है? मत-विभिन्नता बढ़ती गई। वैज्ञानिक तथ्यों को प्रमाणित करने के लिए कठोर वाक्यों और अपशब्दों का प्रयोग किया किया। शांत

मस्तिष्क वैज्ञानिकों की सभा बटेरबाजों का संग्राम-स्थल बन गई। किन्तु कॉख समूची सभा को अपना मत मनवाने में सफल हो गया। कॉख ने अपने भाषण में जो कुछ कहा वह अत्यंत तर्कसंगत और वैज्ञानिक था। उसमें केवल एक कमी थी—उसमें सच्चाई नहीं थी! 1910 में पार्क और कृमवीर ने यह सिद्ध कर दिया कि कम से कम एक-तिहाई रोगी गोपशु यक्ष्मा से पीड़ित हैं, किन्तु तब तक कॉख उस पार जा चुका था।

यक्ष्मा के रोगी डा० एडवर्ड ट्रूडू ने 1873 में अपने मित्रों को अंतिम नमस्कार किया, उनके साथ अंतिम भोजन किया और मरने के लिए एडिराण्डेक पहाड़ियों पर चढ़ गया। किन्तु यह क्या? रोग तो कब का समाप्त हो चुका था। डा० एडवर्ड ठीक हो गया था। अब उसने अन्य रोगियों की सहायता के लिए पहला सेनिटोरियम स्थापित किया। रोगियों को नया जीवन मिला और वैज्ञानिकों को नई समस्या। चीड़ की सुगन्धित वायु में श्वास लेने से यक्ष्मा ठीक हो जाती है। खुले पहाड़ी वातावरण में टहलने से यक्ष्मा लुप्त हो जाती है। किन्तु आराम बड़ी चीज है। शरीर ने विश्राम किया तो रोगाणु भी विश्राम करने लगे और इसी बीच शरीर की रोगरोधी शक्ति ने उन्हें जा दबोचा। यक्ष्मा लुप्त हो गई। रोगी स्वस्थ हो गया।

फ्रांस के दो प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० काल्मेट और डा० ग्वीरिन एक नये अनुसंधान में लग गए, जिसमें न परिश्रम की आवश्यकता थी और न घबराहट की; निश्चित मन और शांत मस्तिष्क। अनुसंधान अनेक वर्षों तक चलना था। मनुष्य के जीवन काल से भी अधिक समय तक। उन्होंने यक्ष्मा के रोगाणु ऐसी परख नली में डाल दिए जिसमें टमाटर का रस, थोड़ी सी ग्लीसरीन और बैल का पित्त रस भरा हुआ था। ग्लीसरीन और टमाटर के रस में रोगाणु तेजी से वृद्धि करते हैं, किन्तु बैल का पित्त इनके स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त नहीं रहता, कुछ विघातक होता है। समय पश्चात् इन वैज्ञानिकों ने ये रोगाणु
दिए जिसमें उपर्युक्त वस्तुएं भरी

किया गया। प्रयोग तेरह वर्षों तक चलता रहा। प्रथम चरण समाप्त हो गया था।

दूसरे चरण में इन रोगाणुओं को सूअरों, बन्दरों और गोपशुओं के शरीर में प्रविष्ट कराया गया। यक्ष्मा उत्पन्न न हो सकी। पशुओं में यक्ष्मा की प्रतिरोधी शक्ति उत्पन्न हो गई थी। इन विशेष प्रकार के जीवाणुओं को बी सी जी (बैसिलस ऑव कालमेट एण्ड ग्वीरिन) नाम प्रदान किया गया।

दोनों वैज्ञानिक इन जीवाणुओं की बार-बार परीक्षा लेते रहे। दस नीरस वर्ष बीत गए, किन्तु जीवाणु शांत बने रहे। उन्होंने कभी भी फेफड़ों पर आक्रमण नहीं किया। कभी भी यक्ष्मा उत्पन्न न हो सकी और तब तृतीय चरण प्रारम्भ हुआ।

सबसे पहले दोनों वैज्ञानिकों ने टीका अपने आपको लगाया। फिर अपने सहयोगियों को, और फिर अपनी इच्छा से टीका लगवाने वाले व्यक्तियों को। सन् 1922 में शिशुओं को बी सी जी का टीका लगाया जाने लगा। आज भी टीका लगाया जाता है और ऐसा लगता है कि अब यक्ष्मा से मरने वाले शिशुओं के लिए छोटी कब्रें नहीं खोदनी पड़ेंगी! अब यक्ष्मा उन्हें पीड़ित नहीं कर सकेगी। विज्ञान की औषधियों ने नहीं, अपितु स्वयं यक्ष्मा के रोगाणुओं ने यक्ष्मा का उपचार कर दिया है।

7

गंगा मैया तोहे पियरी चढ़ाइबो

जनरल याह्या खां जैसे लोगों ने विश्व के इतिहास में अनेक बार मानव-रक्त से होलियां खेली है। हिटलर, मुसोलिनी, नादिर शाह और चंगेज खां की करतूतों के कारण मानवता कई बार चीत्कार कर उठी है। सभ्यता का मस्तक लज्जा से झुक गया है। असहाय माताओं और निराश्रित बहनों की आबरू राजमार्गों और चौराहों पर लुटी है। खून और पसीने की कमाई आग की लपटों में जल उठी है और परम पावन उपासनागृहों को दरिन्दों ने कई बार पैरों तले रौंद डाला है। आज से 2035 वर्ष पूर्व रोमन सेनाएं भी सीरिया में यही सब कुछ कर रही थीं।

रक्त बहाती रोमन सेना स्वर्ण और आभूषणों की खोज में पृथ्वी को लाशों से पाटती और उपासकों को पैरों तले रौंदती हुई, अपोलो के मन्दिर में प्रविष्ट हो गई। सामने ही 'पवित्र' आराधना-स्थल था और उसके ऊपर था एक पुराना बक्स। शताब्दियों से ताला बन्द। लाखों की उपासना का प्रतीक। खुली आंखों का सौंदर्य। बन्द आंखों का बिम्ब। शान्त, निश्छल, पवित्र, सुन्दर। लुटेरों ने ताला झटक दिया। खट से आवरण खुल गया। अन्तर्वस्तु बाहर गिर गई। आश्चर्य निर्वस्त्र हो गया। काल ने विकराल करवट ली। रोमन त्राहि-त्राहि कर उठे! निरीह अबला केवल आह भरती है। लोहा गल जाता है! पाप जल जाता है! यदा यदा हि धर्मस्य……

रोमनों के शरीर गल-गल कर गिरने लगे। कुछ वहीं गिर गए, शेष भाग चले। तम्बुओं में हाहाकार मच गया। सेना में भगदड़ मच गई।

शीतला आग बरसा रही थी ! शांति क्रुद्ध थी ! रोम मे 15 वर्ष मृत्यु का ताण्डव नृत्य चलता रहा । रोम खाली हो गया । नगर के कपाट खुल गए । चेचक बाहर निकली ! योरुप घबरा उठा !

सत्रह सौ वर्षों की लम्बी गाथा कौन कहे ? हर सांझ वीरान थी और हर साल महामारी से परिपूर्ण । हजारों चेचक की बलि चढ रहे थे और लाखों तन मन चेहरे के गहरे दाग लिए फिरते थे । नेत्र-विहीन नतमस्तक थे । निराश्रित सड़को पर भटक रहे थे । शूरवीर घबराकर बाहर भाग रहे थे और चेचक सीना ताने एक के बाद दूसरे घरों मे घुस रही थी । निर्मय निर्विरोध !

चीनियों को ज्ञात था कि चेचक की फुंसियों का शुष्क पदार्थ यदि स्वस्थ लोगों के नथुनों पर लगा दिया जाए तो रोगरोध क्षमता उत्पन्न हो जाती है । भारतीय इससे भी बहुत पहले से यह कला जानते थे, किन्तु 1717 में लेडी मान्टेग एक अक्षम्य भूल कर बैठी । उसने अपने पुत्र को टर्की मे इसी प्रकार का टीका लगवा लिया । पुत्र तो रोग से बच गया, किन्तु माता कोप से न बच सकी । धर्मगुरुओं ने फतवा दिया कि चेचक पापों का फल है और ईश्वर की इच्छा में टांग अड़ाना स्वयं ईश्वर को कुपित करना है, जिसके परिणाम निश्चय ही भयानक होंगे । बेचारी लेडी मान्टेग रात-दिन ईश्वर से क्षमा याचना करती । 'पाप' का प्रायश्चित करती और कभी भी टीका न लगवाने की शपथ लेती । किन्तु चिकित्सकों की नजरें बचाकर और मठाधीशों की अवहेलना करके टीका लगवाया जाता रहा और लोगों में रोगरोध क्षमता उत्पन्न होती रही ।

सरस्वती का दुलारा जिनर 'पक्षियों से खेलता और मिलन के गीत गाता घूमा करता था किन्तु नटी को कुछ और ही इष्ट था । पिता ने उसे चिकित्सा पढ़ने का आदेश दिया और जिनर गीतों की पाण्डुलिपियां बक्से में बन्द कर 1760 में सहबरी पहुंच गया । चिकित्सालय मे जिनर ने एक दिन किसी बाला से स्नेहवश कहा कि उसे संभल कर रहना चाहिए, अन्यथा चेचक निकल आएगी और बाला ने उसका भ्रम निवारण किया । "मुझे

चेचक निकल चुकी है इसलिए अब चेचक नहीं निकलेगी।" जिनर के आश्चर्य का ठिकाना न रहा! जिस तथ्य से योग्य चिकित्सक परिचित नहीं उसे एक सामान्य बाला जानती है। यही नहीं अपितु देहात के ग्वाले, कृषक, श्रमिक और निठल्ले युवक सभी इस सामान्य बात से परिचित थे किन्तु चिकित्सक इस अंधविश्वास पर विश्वास करना विज्ञान का अपमान समझते थे। उसे अनुसन्धान के लिए विषय मिल गया। इस सम्बन्ध में सहकर्मियों से बात करने का कोई लाभ नहीं था। ज्ञान 'अज्ञान' का तिरस्कार करता। वे उसकी 'मूर्खता' पर हंस देते, जिनर चुप हो जाता।

जिनर का अनुसन्धान चलता रहा और 1796 में उसने अंधविश्वास को विश्वास में परिणित कर दिया। उसने सारा जेम्स के हाथ से गोचेचक पदार्थ लेकर उसका टीका आठ वर्ष के जेम्स फिप्स के बाहु में लगा दिया। दो मास पश्चात् उसने जेम्स की दोनों बांहों में टीका लगा दिया। कुछ मास पश्चात् उसने पुनः टीका लगाया किन्तु इस स्थान पर हल्का सा जख्म हुआ जो रोधक्षमता का द्योतक है।

उसने अपने प्रयोग के परिणाम प्रकाशनार्थ रायल सोसाइटी में भेजे और पांडुलिपि तुरंत वापिस लौटा दी गई। 1798 में जिनर ने ये परिणाम अपने खर्चे से प्रकाशित कराए। किन्तु जिनर का विश्वास गलत निकला। चेचक सुलझी नहीं थी, उलझ गई थी! अचानक ज्वार उठा! चेचक के प्रकोप से भी भयानक आक्रोश। तीव्र आक्रोश! अनवरत निन्दा! जिनर बौखला उठा। हे भगवान! एक कहता है कि गोचेचक गन्दी और अपवित्र है। दूसरा कहता है कि इस तरह पशुओं के रोग मनुष्यों में प्रविष्ट हो जाएंगे और पहले के रोग कम तो नहीं। तीसरे का विचारसूत्र उलझ गया है। उसे सोचने की दिशा ज्ञात नहीं। अपनी इच्छा के विरुद्ध जिनर को अपने विरोधियों से जिरह करनी पड़ी, अपने पक्ष में दलील देनी पड़ी। जनसाधारण के सुख और स्वास्थ्य में रुचि रखने वाले चिकित्सक चेचक के टीकों के प्रति 'सचेत' कर रहे थे। टीके लगवाने वाले लोग भूमण्डल के किसी अज्ञात स्थान पर गायों और बैलों में परिवर्तित

हो चुके थे !

जिनर में विश्वास रखने वाले चिकित्सकों की भी कमी नहीं थी। वे बहुधा गोचेचक के स्थान पर चेचक का टीका लगा देते और जब चेचक प्रकट हो जाती तो रोगी से कहते कि इसका कारण जिनर से ज्ञात करे। उन्हें गोचेचक और चेचक का भेद ही नहीं मालूम था।

तीव्र आक्षेप करने वाले लोग कहते कि जिनर ने कोई नई बात नहीं बताई है। जन-साधारण इसे बहुत पहले से जानते हैं। इसलिए अनुसन्धान का श्रेय जिनर को नहीं दिया जा सकता।

जिनर शांत था। वह टहलने जाता, प्राकृतिक इतिहास का अध्ययन करता और कहानियां लिखता। उसने लिखा—केंचुए भीतर-भीतर मिट्टी खोदते रहते हैं। मिट्टी पोली और उर्वर हो जाती है। इस पर उगने वाले पौधे स्वस्थ, सुन्दर और चिरायु होते हैं।

8

शाप, अभिशाप और अभिशप्त

'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरः'। पांडव सेना ने शोर मचा दिया। कान पड़ी बात सुनाई नहीं पड़ती थी। कितनी ही चीत्कारें इस कोलाहल में समा गयीं। युधिष्ठिर का 'कुंजरः' सुनायी न पड़ सका जबकि 'कुंजरः' ही सत्य था शेष सब भ्रामक। गुरु द्रोणाचार्य ने शरीर त्याग दिया। सत्यवादी युधिष्ठिर को पाप का फल भुगतना था। उनकी अंगुली में कुष्ठ हो गया।

चीनी कहते हैं कि पांडव वास्तव में हिमालय पार करके उनके देश पहुंच गए थे। पांडवों के लिए कोई काम कठिन न था और यदि यह सच है तो चीनियों ने पांडवों से एक वस्तु अवश्य प्राप्त कर ली थी, कुष्ठ। चीनी और जापानी भाषा में सिल्क और कागज पर लिखी पुरानी पांडुलिपियों में कुष्ठ का वर्णन आया है।

रोगाणु फारस से होते हुए दजला और फरात नदियां पार करके बेबिलोनिया पहुंचे। इसके बाद सीरिया के रेगिस्तानों की कड़ी धूप और तेज आंधी में इनकी चाल धीमी तो हो गई किन्तु रुकी नहीं और रोगाणु एक दिन मिस्र जा पहुंचे। ओल्ड टेस्टामेन्ट में कुष्ठ के लक्षणों का वर्णन मिलता है।

रोगाणुओं ने योरुप का द्वार खटखटाया और चुपके से भीतर प्रवेश कर गये। अरस्तू के देश ग्रीक, और इसके बाद रोम में इन्होंने अपनी उपस्थिति का उद्घोष किया। स्पेन, पुर्तगाल, इंग्लैंड, स्वीडन, नार्वे, फिनलैंड और रूस में लोग अपने 'पापों का फल' भुगतने लगे। रोगाणु नई दुनियां

की सैर के लिए चले, आस्ट्रेलिया और अन्य द्वीप समूहों तक भी जा पहुचे।

रोगाणुओं के आक्रमण का तरीका एक समान है। वे शरीर पर आक्रमण करने के पश्चात् त्वचा और ऊपरी तन्त्रिकाओं को तो प्रभावित करते हैं किन्तु अन्य अंगों या ऊतकों पर बहुत कम असर होता है। इन रोगाणुओं के शरीर पर चिकना आवरण होता है, जिसके कारण हमारे शरीर के चौकीदारों, अर्थात् भक्षक कोशिकाओं की आखों मे धूल झोंककर बच निकलना इनके लिए कठिन नहीं है। त्वचा के बीच से या तन्त्रिकाओं के साथ-साथ रोगाणु शनैः-शनैः वृद्धि करते हैं और इसीलिए रोग के लक्षण प्रकट होने में अनेक वर्ष लग जाते हैं।

नासिका के मध्य भाग का मांस स्थूल होने लगता है। इसके बाद कानों के निचले किनारे बड़े हो जाते है। तत्पश्चात् आनन और शरीर पर हल्के गुलाबी, लाल, बैंगनी या भूरे रंग के धब्बों के रूप में कुष्ठ गुलिकाएं प्रकट होने लगती हैं। पलकों के बाल झड जाते हैं। चेहरा फूल जाता है तथा गालों और मस्तक पर कठोर कटक प्रकट होने लगते है।

रोग बहुधा यहीं तक सीमित रहता है किन्तु कभी-कभी रोगाणु गले पर आक्रमण कर देते है, जिसके कारण 'कुष्ठ स्वर' उत्पन्न हो जाता है अथवा वे नेत्रों के दृष्टिपटल को घेर लेते हैं और 'कुष्ट अन्धता' उत्पन्न हो जाती है। कुछ रोगियों मे 'कुष्ठ अभिक्रिया' होती है, अनेक सप्ताहों तक तेज बुखार रहता है, मांस और अस्थियां गलने लगती है, रक्तस्राव होने लगता है और पीड़ा होती है। 'कुष्ठ अभिक्रिया' की समाप्ति के पश्चात् रोगी अनेक सप्ताहों तक गतिहीन बना रहता है, दुर्बलता और थकान उत्पन्न हो जाती है। मृत्यु दबे पांव शैया तक चली आती है। रोगी कभी 'स्वस्थ' अनुभव करता है और कभी हालत गिरती हुई प्रतीत होती है।

रोगाणु जब तंत्रिकाओं को प्रभावित कर देते हैं तो शरीर पर जहां-तहां सफेद चकत्ते पड जाते हैं। बाद मे संक्रमित त्वचा मे तेज पसीना निकलता है और असंक्रमित त्वचा सूखी बनी रहती है। दूसरे सोपान में

अंगुलियों, अंगूठों, नाक और कानों की संवेदना समाप्त हो जाती है और ये अंग पीडा का अनुभव नही करते। अंगुलियां लुप्त होने लगती हैं। हाथ मूठ जैसा हो जाता है। अंततः नाक, कान और पैर लुप्त हो जाते हैं। कभी-कभी तंत्रिका कुष्ठ हो जाता है, जिसके कारण लकवा पड़ जाता है तथा मृत्यु हो जाती है। चिकित्सा विज्ञान आज तक भी इसका कारण नही बता सका है।

कुष्ठ सदा से ही 'पापों का फल' समझा जाता रहा है। रोगी समाज मे अभिशप्त का सा जीवन बिताता है। ईश्वर की बनाई हुई इस दुनिया में किसी भी वस्तु से न डरने वाले बहादुरो का दिल कुष्ठ का नाम सुनते ही दहल जाता है। यो डेनियल जैसे डाक्टरों की बात और है जिसने 1840 मे एक कुष्ठ रोगी की संक्रमित त्वचा काट कर अपने शरीर में प्रविष्ट करा ली। डा० डेनियल को यह विश्वास हो गया था कि कुष्ठ छूत का रोग है, पापों का फल नही। उसने यह प्रयोग बार-बार दुहराया, किन्तु कुष्ठ के लक्षण उत्पन्न न हो सके। डा० डेनियल को अपनी राय बदलनी पड़ी। "कुष्ठ चयापचय से विकार के कारण उत्पन्न होता है और रोगी को विरासत में मिलता है। कुष्ठ संसर्गी रोग नही है।" किन्तु डेनियल का एक सहयोगी इसे मानने को तैयार न था। उसे हवाई द्वीप समूह का एक निवासी प्रयोग के लिए उपलब्ध हो गया। कीनू को फांसी की सज़ा हो चुकी थी, किन्तु उसे फांसी के फंदे से बहुत घृणा थी। इसलिए वह इस घृणित रोग के प्रयोग के लिए तैयार हो गया। कीनू को तीव्र कुष्ठ हुआ किन्तु सिद्धान्त प्रमाणित न हो सका क्योंकि कीनू के परिवार में बडे-बूढ़े कोढी हुआ करते थे और बिना प्रयोग के भी कीनू को सम्भवतः उसी अवस्था से गुज़रना था।

हाचेन्सन बहुमुखी प्रतिभायुक्त तथा प्रसिद्ध वैज्ञानिक था, किन्तु उसका विश्वास था कि कुष्ठ मछली खाने से होता है। उसने समूचे विश्व का भ्रमण किया, रिपोर्टें लिखी, प्रश्न पूछे और हज़ारों पृष्ठ लिख-लिखकर ख़राब कर दिए। उसे तिब्बत के लोगों में कुष्ठ मिला जिनकी पिछली सैकड़ों पीढ़ियों ने कभी मछली देखी तक न थी। उसे न्यूगिनी और बोर्नियो

में कुष्ठ के दर्शन नहीं हो सके, जहां के निवासी मछली के अलावा किसी आहार से परिचित तक न थे। किन्तु हार्चन्सन अपना विचार बदलने के लिए तैयार न था। 1913 में हार्चन्सन मृत्यु शैया पर पड़ा था किन्तु, अन्तिम श्वास में भी वह एक ज्ञान की बात बता गया, "कुष्ठ मछली खाने से होता है। लोग यदि मछली खाना बन्द कर दें तो कुष्ठ लुप्त हो जाएगा।"

कुछ लोगों का विश्वास था कि कुष्ठ केवल उष्ण कटिबन्धीय देशों में होता है। दूसरे कहते हैं कि कुष्ठ केवल नम जलवायु में फैलता है। कुछ लोगों का विश्वास था कि चेचक का टीका लगवाने से कुष्ठ हो जाता है। दूसरे कहते हैं कि यक्ष्मा से पीड़ित लोगो को कुष्ठ नहीं हो सकता। कुछ लोगो का विश्वास है कि कुष्ठ से कोई व्यक्ति तभी संक्रमित हो सकता है जब वह लंबे समय तक कुष्ठ रोगियों के संपर्क में रहे, किन्तु कुछ यूरोपियन प्रशांत महासागर के एक द्वीप समूह में कुष्ठ रोगी वेश्या के साथ केवल एक बार केलिक्रीड़ा के पश्चात् संक्रमित हो गए। 1853 मे एक चीनी कोढ़ी न्यूकैलीडोनिया पहुंचा और वहीं की एक स्त्री के साथ रहने लगा। शीघ्र ही समूचे द्वीप का वातावरण घिनौना हो गया। वहां सभी को कुष्ठ हो गया था।

अचानक वैज्ञानिको को पता लगा कि बर्मा में प्राप्त एक औषधि से कुष्ठ निवारण हो जाता है। अब छालमूग्रा तैल सर्वाधिक आधुनिक औषधि बन चुकी थी। लोगों को विश्वास हो चला था कि कुष्ठ का शीघ्र ही उन्मूलन हो जाएगा।

अधे को दो आंखें चाहिए और कुष्ठ रोगी को कुष्ठ का उपचार। इस साधारण-सी बात के लिए वे दुनिया की कोई भी कुर्बानी करने के लिए हर समय तैयार रहते हैं। कुष्ठ निवारण के लिए दी गई औषधियां बहुत से कुष्ठ रोगियों की बलि ले चुकी थी और जो सौभाग्य से बच भी गए थे, उनका दुर्भाग्य ने इस समय भी पीछा न छोड़ा था। उनका कुष्ठ यथावत् था। अब रोगियों को तैल पिलाया गया।

जाते, तो उन्हें खाल में लपेटकर नदी मे फेंक दिया जाता था।

आधुनिक विज्ञान के पास कुष्ठ की कोई रामबाण औषधि नही है। जीवनदायिनी एन्टिवायोटिक से कुछ लाभ होते देखा गया है। सल्फोन और स्ट्रेप्टोमाइसिन यदि धैर्यपूर्वक लम्बे समय तक प्रयुक्त की जाएं तो रोगी की दशा में सुधार संभव है, किन्तु कुष्ठ कम या लुप्त हो जाने पर भी रोगी समाज की नजरों मे उठ नही पाता है। आज भी एक अभिशाप बना हुआ है, और अभिशप्त को कदम-कदम पर तिरस्कार की ठोकर लगाई जाती है।

9

कुत्तों के शौकीनों, सावधान

किसी न किसी कुत्ते की हरकतों पर मालिक को शरमाते तो साहब आपने भी देखा होगा किन्तु कुत्ता जान-लेवा रोगों का वाहक भी होता है—यह शायद आपको मालूम न हो। स्वामीभक्ति और श्रेष्ठ साथी के रूप में कुत्ता आधुनिक युग में लॉन से चलकर घर के आंगन तक प्रवेश पा गया है। इतना ही नही बल्कि कुछ ज्यादा खुशामदी कुत्तों की पहुंच तो फैशन-परस्तों के बिस्तरों तक भी हो गई है, किन्तु यह सब कुत्तो की नस्ल और खुशामद की मात्रा पर निर्भर करता है। आधुनिक सभ्यता की दुलारी कुछ ललनाएं प्यार से कुत्तों का मुख चूमती हैं और थपथपाकर गले लगाती हैं अथवा बराबर में बिठा कर कार 'ड्राइव' करती हैं। तब पालतू कुत्ता शाम को पांच बजे लौटने वाले 'साहब बहादुर' का जिस आत्मीयता से स्वागत करता है, उसमे दफ्तर की सारी चिढन, बदगुमानी और थकान क्षण-भर मे बहकर रफूचक्कर हो जाती है। यद्यपि आपके शौक में मीन-मेख करने का अधिकार हमें नही, तथापि इतना तो आपने भी देखा होगा कि हाथ का दिया टुकड़ा न मिलने पर कुत्ते अक्सर भौंकने और गुर्राने लगते हैं। समय पड़ने पर तो घृणा से मुंह तक फेर लेते हैं। यही नही अपितु जरा-सी लापरवाही से ही ये तथाकथित निस्वार्थी मित्र प्राणघातक सिद्ध हो सकते हैं और मनुष्य के शरीर में ऐसे जान-लेवा रोगों का प्रवेश करा देते हैं कि मुख से 'त्राहिमाम्' निकलते बनता है।

विश्व में जहां कहीं भी कुत्ता मनुष्य के सम्पर्क में आता है, वहां हाइडॉटेड रोग बड़े मजे से फूलता-फलता है। यह रोग सार्वभौमिक है तथा

एकाइनोकोकस ग्रेनूलोसस नामक फीते के आकार के कृमि की लार्वा से पैदा होता है। रोग से संक्रमित कुत्तों की संख्या और किसी कुत्ते में इन परजीवियों की संख्या तथा मनुष्य के खाने-पीने की वस्तुओं से कुत्ते की समीपता का मान-संक्रमण से सीधा सम्बन्ध है। कुत्ते खुली घास पर मल त्यागते हैं जिसको चरने से भेड, गाय और सुअरों के पेट में परजीवी पहुच जाते हैं। इन जानवरों का मांस जब मनुष्य खाते है, तब भोजन के साथ ही परजीवी के अण्डे भी पेट में पहुंच जाते हैं। कुत्ते में यह परजीवी पन-पता ही नही है, अपितु मनुष्य और अन्य स्रोतो के बीच की दूरी कम करने मे कुत्ता महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

एकाइनोकोकस ग्रेनूलोसस नामक फीता कृमि दो से पांच मि० मी० लम्बा होता है और इसमें बहुधा तीन देह-खण्ड होते है। अंतिम देहखण्ड सगर्भा होता है। सगर्भा देह-खण्ड से निकले अण्डे खाने-पीने की चीजों के साथ मुख के रास्ते मनुष्य की आंत मे पहुंच कर फूट जाते हैं और लार्वा रक्त के साथ विभिन्न अंगो मे चले जाते हैं। इनके चारो ओर 5.10 से.मी. या इससे अधिक व्यास की पुटियां (हाइडॉटड सिस्ट) बन जाती हैं। मनुष्य मे बहुत बडी पुटियां भी पाई गई हैं। एक बार तो लगभग 50 से० मी० व्यास की पुटी मिली और उसमे साढ़े तीन गैलन तरल पदार्थ भरा था। बडी पुटी से अनेक छोटी पुटियां बन जाती हैं। पुटिया शरीर के किसी भी भाग में बन सकती हैं, किन्तु मुख्यतः फेफड़ो मे और जिगर में बनती हैं। कुत्ते में ये कृमि 6-7 सप्ताह मे वयस्क हो जाते हैं। वयस्क कृमियों के कारण कुत्तों को विशेष हानि नही पहुंचती। हां, यदि इनकी संख्या बहुत अधिक हो तो आन्त्रशोथ हो सकता है। मल के साथ परजीवी के अण्डे भी वाहर निकलते रहते है और कुत्ते की पूंछ और कमर के आसपास चिपक जाते हैं। बच्चे या बड़े जब इन कुत्तों से खेलते हैं तब ये अण्डे हाथ के साथ मुंह में चले जाते है।

पुटी का आकार बढने के साथ-साथ मनुष्य का स्वास्थ्य खराब होने लगता है। श्वास और पाचन सम्बन्धी विकार तथा जलोदर जैसी शिकायत होने लगती है।

रोग से बचाव के लिए कुत्तों का नियमित उपचार किया जाना चाहिए। उन्हें कच्चा मांस हरगिज नहीं खिलाना चाहिए। इससे जरूरी बात यह है कि कुत्तो को मुंह नही लगाना चाहिए और उन्हें यथासम्भव दूर रखना चाहिए। हो सकता है कि कुत्तों को प्यार करने वाले लोग यह बात पसन्द न करें, किन्तु रोग की भयानकता को ध्यान मे रखते हुए कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिए कि कुत्ते मकान के बाहर रहें। मनुष्य के इस्तेमाल में आनेवाली प्लेटो और बर्तनों को न चाटें। बच्चों को कुत्तों से निश्चय ही दूर रखना चाहिए।

दूसरा रो—जिसमे कुत्ते महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है—लेप्टो-स्पाइरा रुग्णता है। यह रोग एक स्पाइरोकीटा से उत्पन्न होता है। इसमे ज्वर, मांस-पेशियों में तीव्र पीड़ा और दुखन उत्पन्न हो जाती है। पीलिया हो जाता है। त्वचा और नेत्रों के श्वेत भाग का रंग पीला पड जाता है। इसके बाद भीतरी अगो और त्वचा के नीचे रक्त-स्राव होने लगता है। समुचित इलाज न किया जाए तो मृत्यु हो जाती है। स्पाइरोकीटा से दूषित जल पीने या ऐसे जल में स्नान करने से मनुष्य इन रोगाणुओं के सम्पर्क में आ जाता है। ये स्पाइरोकीटा शरीर की कोमल झिल्लियो या त्वचा के जख्म, खरोंच और रगड आदि के माध्यम से रक्त-प्रवाह में चले जाते है। इस रोग के निदान में पर्याप्त नैदानिक अनुभव और आधुनिक उपकरणों से सज्जित प्रयोगशाला की आवश्यकता होती है। इसलिए काफी समय तक रोग का निदान नही हो पाता और रोग लाइलाज हो जाता है।

यह रोग वर्ग विशेष के लोगो में तो बहुधा पाया ही जाता है, जैसे गन्ना, धान और मटर के खेतो में काम करने वाले मजदूर, खनिक और मेहतर आदि, किन्तु केनीकोला-ज्वर के रूप में यह कुत्ता-प्रेमियों मे भी प्रवेश कर गया है। चूहे, सुअर, गाय और बकरियाँ भी इस रोग के प्रसार में सहायक हैं। लेप्टो-स्पाइरा कशीभयुक्त सूक्ष्मजीव (फ्लैजीलेटिड आर्गेनिज्म) होते हैं तथा इनमें सूक्ष्म गति की क्षमता होती है। ये पानी और कीचड़ मे अनेक दिनो तक जीवित रह सकते हैं किन्तु स्तनधारी पशुओ के बाहर नही

बढ़ सकते। इसी प्रकार ये भोजन या दूध में भी काफी समय तक जीवित रह सकते हैं। कुत्ते आदि रोगवाहक प्राणियों में बहुधा रोग लक्षण प्रकट नहीं होते तथा ये स्थायी रूप से संक्रमण वहन रहते हैं। मनुष्य का इनसे निकट का सम्पर्क है। रोगजनक सूक्ष्मजीव मूत्र के साथ बाहर निकलते हैं। कपड़ों, बिस्तर या बर्तन आदि पर यह मूत्र गिर जाता है और मनुष्य में रोग प्रवेश कर जाता है। मूत्र में सनी मिट्टी के सम्पर्क में आने से भी संक्रमण हो सकता है। इसीलिए यह रोग बहुधा 'मड फीवर' कहलाता है। दूषित जल में तैरने वाले लोगों को भी छूत लग सकती है। पालतू कुत्ते रोग संक्रमण के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। ये लेप्टोस्पाइरा युक्त मूत्र से समूचे घर को गन्दा कर देते हैं तथा घर के चूहे इस कार्य में इनकी सहायता करते हैं।

मूत्र से निकले सूक्ष्म जीवाणु खरोंच लगी त्वचा, अथवा नाक, मुंह, नेत्र की श्लेष्क झिल्लियों के रास्ते शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। यह सूक्ष्म जीव बहुत कोमल होता है और सम्भवतः त्वचा को बेध कर प्रवेश नहीं कर पाता। दूसरी ओर मूत्र से दूषित मिट्टी से सने हाथों के माध्यम से रोगाणु मुंह तक पहुंच जाते हैं और मुंह की श्लेष्क झिल्लियों को बेध कर रक्त में चले जाते हैं।

रोग से बचाव के लिए जहां एक ओर यह आवश्यक है कि गन्दे पानी में हाथ न डाले जाएँ और नदी-नहरों में स्नान न किया जाए, वहीं उससे भी अधिक यह जरूरी है कि पालतू कुत्तों से बचाव किया जाए। स्वस्थ दिखाई पड़ने वाला कुत्ता भी रोग का वाहक हो सकता है और प्यार करने के साथ साथ शरीर में विष प्रविष्ट करा सकता है।

रेबीज (हाइड्रोफोबिया, पागलपन) एक विशेष प्रकार के विषाणु (वाइरस) से उत्पन्न होता है जो मस्तिष्क पर तीव्र प्रभाव डालता है। इस रोग में अत्यधिक उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है, फलस्वरूप प्राणघातक अंगघात हो जाता है। कुत्ते में उत्तेजना की यह अवस्था रेबीज कहलाती है, जिसमें कुत्ता दूर तक भागा चला जाता है और मार्ग में जिसे पाता है,

उसी पर भौंकता है। कभी-कभी कुत्तों मे उत्तेजना नही भी होती और सीधे अंगघात हो जाता है। पानी निगलने में सहायता करने वाली मांस-पेशियों के अगघात के कारण कुत्ते की लार टपकती है तथा वह पानी से भागता है। इस रोग के आक्रमण से मनुष्य निश्चित रूप से मर जाता है किन्तु पशु यदा-कदा बच भी जाते हैं। चमगादड़ों मे रोग लक्षण प्रकट नही होते तथा ये स्वयं स्वस्थ बने रहकर दूसरों को विषाणु वितरित करते रहते हैं।

यह रोग कुत्ते और उनकी संख्या से सीधा सम्बन्धित है और इस वैज्ञानिक युग मे भी मानव सभ्यता के माथे पर कलंक स्वरूप है। इस रोग से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है कुत्तों से छुटकारा या फिर इससे कुत्तों का बचाव। गीदड़ लोमड़ी और भेड़िए भी रोगवाहक हो सकते हैं, किन्तु मनुष्य का इनसे सीधा वास्ता नही पड़ता।

इस रोग का निस्पन्दी-विषाणु कुत्ते की लार मे मौजूद रहता है और रोग लक्षण प्रकट होने के एक सप्ताह पूर्व से ही लार में टपकने लगता है। इस तरह आपका कुत्ता यद्यपि ऊपर से स्वस्थ दिखाई पडता है, तथापि आपके लिए खतरनाक हो सकता है। लार का विषाणु लार के साथ शरीर पर गिरकर किसी चोट या खरोंच के रास्ते शरीर में प्रवेश कर जाता है। कुत्ता हमारा हाथ चाटता रहे या हम ही उसके मुंह में हाथ डाल दें, अथवा कुत्ता स्वयं ही इस बीच काट ले और अनजाने मे हम उसे थपथपाते भी रहें तो निश्चय ही प्यार के बदले काटों का हार गले पड़ जाएगा।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कुत्ता आंशिक-अंगघात के कारण भोजन निगलने मे कठिनाई महसूस करता है और हम उसका गला सहलाने लगते हैं। कुत्ता अचानक भौंक उठता है अथवा उसकी लार हाथों पर गिर जाती है। घर या बाहर काम करते समय हाथों मे खरोंच लग जाना इतना सरल है कि मालूम भी नहीं पडता। हाथ के एक भाग से जरा-सी त्वचा हट जाती है और बहुत मामूली-सा जख्म बन जाता है। बस वाइरस के स्वागत के लिए तोरण द्वार सज गया। प्रविष्ट होने वाले वाइरस का

परिणाम खरोंच के आकार और किस्म पर निर्भर करता है। बड़े जख्मों मे अनेक तन्त्रिका-तन्तु खुल जाते हैं। ये जख्म मामूली खरोंच की अपेक्षा कहीं अधिक खतरनाक सिद्ध होते हैं। नंगी त्वचा के जख्म तो और भी अधिक जानलेवा होते हैं। सबसे खराब बात तो यह है कि जख्म पर कभी कोई रोग-लक्षण प्रकट नहीं होता।

सिर के आसपास के जख्मों से विषाणु प्रवेश के फलस्वरूप दो-तीन सप्ताह में रोग लक्षण प्रकट हो सकते है, जबकि अगुलियो आदि के माध्यम से प्रवेश करने पर रोग के प्रकट होने मे तीन से छह सप्ताह लग जाते है। कभी-कभी यह अवधि 6 मास तक हो सकती है। रोग के प्रकोप मे इतना विलम्ब होने का कारण यह है कि विषाणु इस बीच 'प्रसुप्त' अवस्था में पड़े रहते हैं और बाद मे अचानक इनकी संख्या बढ जाती है। कुत्ते का रोग उद्भवन काल 2-3 सप्ताह होता है किन्तु कभी-कभी कई मास तक हो सकता है। इसीलिए नए खरीदे हुए कुत्ते को कम-से-कम छः मास तो अवश्य अलग रखना चाहिए।

जरूरी नही कि कुत्ते के काटे सभी लोगों को रेबीज रोग होता हो। इसका कारण सम्भवतः यह है कि शरीर मे विषाणु आंशिक रूप से नष्ट हो जाते हैं तथा रेबीज रोग से पीडित कुत्तों की लार मे सदा ही विषाणु नही होते। किन्तु भयानक परिणामों से बचने के लिए यह जरूरी है कि किसी योग्य चिकित्सक की सम्मति ली जाए और समय रहते बचाव का टीका लगवा लिया जाए। स्पष्ट रोग-लक्षण प्रकट होने के लगभग एक सप्ताह पहले से ही लार मे विषाणु मौजूद रहता है, इसलिए काटते समय कुत्ता भले ही स्वस्थ प्रतीत होता हो किन्तु उसको कम-से-कम 10-14 दिन तक उपयुक्त एवं कठोर निगरानी में रखा जाना चाहिए। कुत्ते के काटने को बहुधा एक सामान्य घटना समझ लिया जाता है और इससे उत्पन्न भावी दुष्परिणाम की ओर ध्यान नही जाता। कभी-कभी काटते ही कुत्ते को मार दिया जाता है। इससे समस्या और भी जटिल हो जाती है। कुत्ते मे रोग का सन्देह होने के बाद भी यदि उसे सुविधापूर्वक पकडा जा सकता

है तो पकड़कर बांध लेना अधिक उपयुक्त होगा। कुत्ता यदि निरीक्षण के दौरान मर जाए तो उसका सिर काटकर और समुचित रूप से बर्फ में रखकर उसके मस्तिष्क की परीक्षा के लिए उपयुक्त प्रयोगशाला में भिजवा दिया जाना चाहिए। कुत्ते को रेबीज का टीका लगवाने के बाद भी कम-से-कम तीन मास तक कठोर निगरानी में रखना जरूरी है।

लीशमैनियासिस (काला अजार) एक सार्वभौमिक रोग है और मनुष्य में कुत्ते के सम्पर्क के कारण उत्पन्न होता है। यूरोप, भू-मध्यसागरीय देश, उत्तरी अफ्रीका, भारत, चीन, दक्षिण अमेरिका, ट्रान्स काकेशिया और ओशियाना में यह रोग बहुतायत से मिलता है। भारत में यह रोग कुत्ते से उत्पन्न त्वचा-लीशमैनियता के रूप में मिलता है जो आरिएण्टल सोर या लाहौरी-जख्म कहलाता है। सेन्डफ्लाई और चूहे आदि कुतरने वाले प्राणियों के अतिरिक्त कुत्ते इस रोग के प्रसार में विशेष सहायता करते हैं और इस दृष्टि से मनुष्य के शत्रु स्वरूप हैं।

बाह्य परजीवी एवं फफूंदी जनित रोग

देहाती क्षेत्रों में कुत्ते आदि पालतू पशुओं के सम्पर्क में रहने पर मनुष्य को विभिन्न प्रकार के त्वचा रोग लग जाते हैं। पशु समुदाय में माइक्रोस्पोरीन और ट्राइकोफाइटान की अनेक जातियां पाई जाती हैं। इनके कारण मनुष्यों की त्वचा पर दाद पड़ जाते हैं (ट्राइकोफाइटोसिस फेबस) और कभी-कभी तो समूचे गांव के लोग पीड़ित हो जाते हैं। कुत्ते, घोड़े, गाय, बकरी और सूअर में पाई जानेवाली किलनी (साकाप्टीज जातियां) मनुष्यों को काटकर जलन और परेशानी ही पैदा नहीं करती अपितु खुजली जैसे रोग भी उत्पन्न करती हैं।

शिस्टोसोम रुग्णता

अनुमान लगाया गया है कि विश्व में लगभग 14,000,000 मनुष्य इस रोग से पीड़ित हैं। इस रोग का परजीवी घोंघे से निकलकर परपोषी पर

आक्रमण करता है। पालतू पशु इस रोग के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है। इस सम्बन्ध में प्रामाणिक आकड़े उपलब्ध नही हो सके हैं, फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि कुत्ते, भैंसे, घोड़े, चूहे और बिल्लियां इस रोग के परजीवी शिस्टोसोमा जैपोनिकम से काफी संख्या मे संक्रमित पाए गए हैं और मनुष्य मे सम्भवतः इन्ही से यह रोग प्राप्त करता है। इन रोगों के अलावा भी ऐसे अनेक रोग हैं जिनमे मानव संक्रमण कुत्तों से सीधे सम्बन्धित है। फिर भी इसका अर्थ यह नही है कि कुत्ते जैसे विश्वसनीय एवं स्वामीभक्त पशु मे हम घृणा करने लगे। कुत्ता हमारा रक्षक और विश्वासपात्र ही नही अपितु एक प्रिय साथी भी है। मालिक को देखते ही कुत्ता इतना अधिक प्यार बिखेर देता है कि दुःख और चिन्ता के क्षण भी सुख और उल्लास में परिवर्तित हो जाते है। आवश्यकता इस बात की है भयानकता और अनिष्ट के आधार पर इन रोगों का महत्त्व समझा जाए और कुत्तों की समय-समय पर जाच कराकर उनका समुचित इलाज कराया जाए।

10

आस्तीन के सांप

पार्वती पुत्र श्री गणेश का नाम लेते ही चूहों का ध्यान आ जाता है। देवताओं को मात देने के लिए गणेश जी ने एक बार चूहे को अपना वाहन क्या बना लिया कि बस चूहे सदा के लिए मनुष्यों के साथ लग गए। आज विश्व के चूहे अन्न खाने के अलावा प्रतिदिन कितनी आर्थिक हानि करते हैं इसका सही हिसाब तो कोई अर्थशास्त्री ही लगा सकेगा किन्तु घर में जितना अनाज मनुष्य खाते हैं, लगभग उतना ही चूहे खा जाते हैं।

अनाज की कमी पूरी करने का भार तो अब बौने बीजों ने अपने छोटे कन्धों पर संभाल लिया है किन्तु चूहों से उत्पन्न होने वाले रोगों से मुक्ति दिलाने के लिए सभ्यता आज भी चिन्तित है। प्लेग के नाम कौन परिचित नहीं है। इस शैतान की वजह से विश्व ने इतिहास के कितनों ही पन्नों पर स्याही पोत दी है। इतिहास साक्षी है कि इसने जब-जब रौद्र रूप धारण किया, मुर्दे रखने के लिए श्मशानों में स्थान उपलब्ध नहीं हुआ। मध्य युग में यौरुप की तीन-चौथाई आबादी इसी नामुराद बीमारी का शिकार हुई। अकेले भारत में ही 1898 में 60, 32, 693 मनुष्य इस महामारी के ग्रास बने। 1919-1928 के बीच के दस वर्षों में विश्व में प्रति वर्ष 1, 70, 300 लोग प्लेग की बलि चढ़ते रहे। यहां तक कि 1960 के आंकड़ों के अनुसार भारत में ही प्लेग के 93 रोगियों में से 24 जान से हाथ धो बैठे। मद्रास और मैसूर राज्यों में आज भी अनेक लोग इस कोप की ज्वाला में जल रहे हैं जिसकी लपटें जब चाहें समूचे देश में फैल सकती हैं।

प्लेग के जीवाणु पिस्सू के आमाशय की ग्रन्थि (प्रोवेंट्री कुलस) में वृद्धि

करते है तथा जीवाणुओ के कारण पिस्सू का आमाशय भर जाता है। पिस्सू जब किसी प्राणी को काटता है, तो जीवाणु उस प्राणी के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। काटते समय पिस्सू मल विसर्जन भी करता है, जिसमें जीवाणु विद्यमान रहते है। पिस्सू के काटते ही जलन के कारण लोग जल्दी से दंश स्थल पर हाथ रगड़ देते है तथा जीवाणु अनजाने ही दंश स्थल के रास्ते शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। ये पिस्सू चूहो पर रहते है तथा चूहो की मृत्यु के पश्चात् भी ठंडे और नम वातावरण में कई महीनो तक जीवित रह सकते हैं। 27 से .0 से ऊपर के शुष्क वातावरण में पिस्सू शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए शुष्क गर्मी के दिनों में प्लेग कम फैलता है। चूहे आदि कृंतकों के अतिरिक्त प्लेग के पिस्सू ऊंट जैसे बड़े पशुओं पर भी रहते हैं। विश्व की लगभग चौथाई जनसख्या ऊंट के सीधे सम्पर्क मे है और इसे सवारी आदि के रूप में इस्तेमाल करती है।

मनुष्य मे प्राय: गिल्टी और फुफ्फुसी दो प्रकार की प्लेग होती है। कभी गिल्टियां निकलने के पहले ही जीवाणु लसी का पर्वो तक पहुंच जाते हैं और रक्त प्रवाह में चले जाते हैं। इस प्रकार की प्लेग पूति रक्तक प्लेग कहलाती है और रोग का सबसे भयंकर और घृणाप्रद रूप है। गिल्टी प्लेग में जीवाणु लसी का पर्वो में इकट्ठे हो जाते है। चूहों पर रहने वाले पिस्सू प्राय: टांग, हाथ या गर्दन पर काटते हैं और इन अंगों मे काटने के बाद गिल्टियां प्राय: 3-10 दिन मे दिखाई पड़ने लगती है। रोग की तीव्र दशा में गिल्टियो से रक्त स्राव होने लगता है और गलाव शुरू हो जाता है। इसके बाद गिल्टियां फूट जाती हैं और तेजी से बढने वाली सूजन आस-पास के अंगो तक फैल जाती है। गिल्टियों मे तीव्र पीडा होती है। साथ ही व्याकुलता, घबराहट, सिरदर्द, तीव्र ज्वर और शरीर मे ऐंठन उत्पन्न हो जाती है। श्वास और नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है तथा रक्त विषाक्त हो जाता है जिसके कारण मानसिक विकार उत्पन्न हो जाता है। जिह्वा लड़खडाने लगती है और गति निभ्रम हो जाती है, रक्त स्राव कम होने से रोगी स्तब्ध हो जाता है तथा तीव्र हृदयात के कारण मृत्यु हो जाती है।

आस्तीन:के

फुफ्फुसी प्लेग में जीवाणु फेफड़ों पर आक्रमण करते हैं तथा रक्त-स्रावी श्वसनी न्युमोनिया उत्पन्न हो जाता है। रोगी के रक्त मिश्रित झागदार कफ में बहुत अधिक जीवाणु विद्यमान रहते हैं तथा परिचारकों तक को रोग की छूत लग सकती है। रोग अचानक शुरू होता है तथा दो दिन में ही शरीर में ऐंठन, तीव्र-ज्वर, खांसी, कष्ट श्वास, नीलापन और सीने में दर्द हो जाता है। रक्त प्रवाह रुक जाने से रोगी शीघ्र ही चल बसता है।

घर में चूहों का अचानक मरना इस बात की चेतावनी है कि अब प्लेग आदमियों में भी फैलेगी। रोग का प्रकोप इतना तीव्र होता है कि वह रोगी ही नहीं अपितु रोने वालों को भी साथ ले जाता है। इस प्रलय बचने का एक ही तरीका है कि घर के गोदामों में तथा धान्यागारों से चूहे बिल्कुल नष्ट कर दिए जायें। चूहों की उपस्थिति का सन्देह होते ही बिलों में चूहे मारनेवाले विष की गोलियां डाल दी जायें। अपने आप मरने वाले चूहों को जला दिया जाये। चूहों के बिलों में और आस-पास के स्थानों में 10 प्रतिशत डी० डी० टी० का घोल छिड़क दिया जाये ताकि चूहों के मरने के बाद उनके पिस्सू मनुष्यों पर आक्रमण न कर सकें।

ह्वाइटमोर ने बर्मा में प्लेग से मिलता-जुलता मेलियाडोसिस नामक रोग खोज निकाला है। यह एक जीवाणु जनित रोग है तथा भारत, लंका, मलाया, बंगला देश तथा अफ्रीका के कई देशों में और विश्व के अन्य अनेक भागों में पाया जाता है। यह रोग चूहों से फैलता है। चूहे रसोई में जाकर भोजन और खाने-पीने के बर्तनों पर बड़े शौक से घूमा करते हैं तथा अपना पेट भरने के साथ-साथ शेष खाद्य पदार्थों को अपने मलमूत्र से दूषित कर देते हैं। रोगी चूहों के मलमूत्र में रोग के जीवाणु मौजूद रहते हैं। मनुष्य के रक्त में तीव्र सेप्टीसीमिया हो जाता है। साथ ही ज्वर अतिसार; सीने में दर्द और बेहोशी हो जाती है। रोग के लक्षण हैजा प्लेग या मलेरिया से मिलते-जुलते होते हैं। कम तीव्र दशा में फेफड़े प्रभावित हो जाते हैं। लगातार ज्वर आता है। फेफड़े, जिगर, वृषणों और

मांसपेशियों में छोटी-छोटी फुसियां बन जाती हैं। कभी तो भ्रम से इसे यक्ष्मा या मियादी बुखार समझ लिया जाता है। इस रोग से बचने के लिए तैयार की गयी वेक्सीन अभी तक विशेष लाभप्रद सिद्ध नहीं हुई है। रोग से बचने का एक ही उपाय है अर्थात् चूहों से बचाव।

पास्चुरेला टुलारेन्सिस नामक जीवाणु से फैलनेवाला टुलारीसिया रोग प्लेग के ही समान भयानक है तथा विश्व के लगभग सभी देशों में पाया जाता है। चूहों के पिस्सू जू और मक्खियां मनुष्यों पर भी आक्रमण करते है तथा रोग के आदान-प्रदान मे सहायता करते हैं। मरे हुए चूहों को हाथ मे उठाकर बाहर फेंकते समय भी लोगों को रोग की छूत लग जाया करती है। चूहों से दूषित पानी पीने ने या उसमे स्नान करने से भी छूत लगती है। यही नहीं अपितु चूहों के स्राव मे भी जीवाणु रहते हैं और चूहे यदि कपड़ों को बिना काटे ही ऊपर से गुजर जायें तो भी मनुष्यों की मौत का सामान छोड़ जाते हैं।

छूत लगने के 1-10 दिन के भीतर अचानक बुखार आने लगता है। सिर कमर और पिंडलियो मे दर्द होने लगता है। कमजोरी आने लगती है। उल्टिया आती है और आखों की भीतरी झिल्ली मे सूजन आ जाती है तथा रोग की तीव्र दशा मे मानसिक विकार और सन्निपात हो जाता है। जिगर और तिल्ली बढ जाती है। ये लक्षण तो केवल एक प्रकार के टुलारीमिया के है। अन्यथा यह रोग कई प्रकार का होता है और चूहो की कृपा से मनुष्य या तो तडप-तड़पकर मरता है या फिर समाज में घृणा की वस्तु बन जाता है।

लेप्टोस्पाइरा रोग का पता यद्यपि 1907 मे ही लग गया था किन्तु 1946 तक इस पर विशेष कार्य नही हुआ। पिछली दशाब्दी में रोग तेजी से बढ़ा और अब तक इसके 104 विभेद ज्ञात किए जा चुके है। यह रोग भी मुख्यत: चूहों की ही देन है क्योंकि रोग के सूक्ष्मजीव चूहो के मलमूत्र के साथ निकलते हैं और चूहा रसोई मे भोजन करने के बाद मूत्र त्यागने के लिए पेशाबघर नही जाता अपितु बिस्तरों पर घूमता है। वैज्ञानिकों

का विचार है कि यदि रोग की रोकथाम के लिए उपयुक्त उपाय नहीं किए गए तो यह शीघ्र ही उग्र रूप धारण कर लेगा।

रोग के सूक्ष्मजीव शरीर में प्रवेश करने के उपरान्त रक्त में चले जाते हैं तथा जिगर, गुर्दे, मांसपेशियों और नेत्र की झिल्लियों में इकट्ठे हो जाते हैं। जिगर और तिल्ली बढ़ जाती है। केशिकाओं के फटने से रक्त-स्राव होता है और उतकों में गलाव शुरू हो जाता है। पीलिया तक हो सकता है। रक्तस्रावी न्यूमोनिया के कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है। रोगी के मूत्र में सूक्ष्मजीव विद्यमान रहते हैं तथा परिचारकों तक को रोग की छूत लग जाया करती है।

चूहे रोगाणुओं के अतिरिक्त मनुष्य के शरीर में अनेक कृमि भी प्रविष्ट करते हैं। हाईमेनोलेपिस नाना नामक फीते के आकार के कृमि के अंडे चूहों से दूषित भोजन खाने से ही मनुष्य के शरीर में पहुंचते हैं। दक्षिण रूस और भूमध्य सागरीय देशों में 5-33 प्रतिशत लोग इस कृमि से संक्रमित हैं तथा भारत, ईरान, फार्मोसा, जापान तथा अनेक अमेरीकी देशों में 6-12 प्रतिशत लोगों के शरीर में ये कृमि आज भी पल रहे हैं। यह कृमि औसतन लगभग 10-15 मि० मी० लम्बा होता है। अपने ही हाथ की अंगुलियों से शरीर में पहुंचे ये विष-बीज मनुष्य की छोटी आंतों में पहुंचकर लगभग 6 दिन में छोटे-छोटे लार्वाओं के रूप में विकसित हो जाते हैं और आन्त्र की भित्तियों में चिपक जाते हैं। हमारे खून पर पलने वाले ये कृमि हमारे स्वास्थ्य को भारी नुकसान पहुंचाते हैं।

कैपिलेरिया हैपेटिका नामक गोलकृमि विश्व के अधिकांश भागों में पाया गया है। दिल्ली के आसपास से पकड़े गये चूहों में ये कृमि बहुत अधिक संख्या में पाए गए हैं। तथा मिट्टी खाने वाले बच्चों के शरीर में बड़ी आसानी से प्रवेश कर जाते हैं। बच्चे अनजाने में अक्सर मिट्टी खाने लगते हैं। मिट्टी में अन्य प्रकार के कृमियों के अंडे तो रहते ही हैं किन्तु यदि यह मिट्टी चूहों के मल से दूषित हो तो इसमें कैपिलेरिया हैपेटिया के अंडे भी मौजूद रहते हैं। ये अंडे इतने छोटे होते हैं कि साधारण आंखों से

देखना संभव नही है ।

संक्रमण के उपरान्त रोगी को ज्वर, उदर विकार और पीडा हो जाती है। रक्त की कमी और इयोसिनोफीलिया हो सकता है किन्तु रोग का निदान सरल नही है तथा इसका पता शव परीक्षा से ही चल पाता है।

चूहो के कारण उत्पन्न होनेवाले रोगो की संख्या कम नही है किन्तु चूहे काटने से उत्पन्न होनेवाले ज्वर का अनुभव तो कई लोगों ने किया ही होगा। यह ज्वर यदि एक बार रुक भी जाए तो दुबारा आक्रमण करता है। जख्म के आसपास सूजन और लाली आ जाती है और मासपेशियों एवं जोडो में दर्द होने लगता है। रोग के लक्षण बहुधा इन्फ्लुएन्जा के समान होते है और मूषक ज्वर से पीडित लोग इसे जुकाम समझकर काढ़े उबालकर पिया करते हैं। दूसरी ओर शरीर मे स्पाइरिलम माइनस पलते रहते हैं और कुछ ही दिनो मे ज्वर और सिर मे तेज दर्द होने लगता है, पसीना आता है और रोगी कमजोर होता जाता है।

चूहों को देखकर यद्यपि दूर से ही घृणा होती है किन्तु फिर भी कुछ शौकीन इन्हें पिंजड़ों में बन्द कर बडे प्रेम से भोजन खिलाया करते है। एक दिन ये चूहे ही उनके लिए आस्तीन के साप सिद्ध होते हैं तथा इनके मालिक नाना प्रकार के रोगों के शिकार हो जाते हैं दूसरी ओर इन चूहो की सख्या इस रफ्तार से बढती है कि बड़े-बड़े प्रजनन-शास्त्रियो को भी चक्कर मे डाल देती है। एक नर और मादा एक वर्ष तक मन लगाकर परिश्रम करें तो वर्ष के अन्त में इनके परिवार की संख्या 900 हो जायेगी। इसीलिए आज मानव समाज मे परिवार नियोजन की जितनी आवश्यकता है उससे भी कही अधिक आवश्यकता चूहो के परिवार नियोजन की है।

11

चार करोड़ लोगों के शरीर में जीवित सर्प

पड़ोस के एक साहब को बचपन से ही कच्चा दूध पीने की आदत थी। कहते हैं, ब्रूसेलेसिस हो गया है। काफी दिनों से बुखार आता है। बीच-बीच में कभी नहीं भी आता। बुखार में बड़ी घबराहट हो जाती है। पसीना बहुत आता है। जोड और मूत्राशय भी प्रभावित हैं। कई महीने से चार-पाई पर हैं। रोग तीव्र था, इसलिए लक्षण प्रकट हो गए। नहीं तो पता भी नहीं चलता। हलका बुखार, घबराहट और पसीना तो यों भी हो सकते हैं।

मनुष्यों में यह रोग ब्रूसेला समूह के तीन प्रकार के जीवाणुओं से उत्पन्न होता है और सार्वभौमिक है। बकरी, गाय, भैंस और सूअरों में यद्यपि तीन भिन्न प्रकार के ब्रूसेला सूक्ष्म जीव रोग उत्पन्न करते हैं, तथापि कभी-कभी आपस में तबादला भी कर लेते हैं। पशुओं में यह संसर्गी गर्भ-पात या बैंगरोग कहलाता है। जीवाणु अयन में इकट्ठे होकर दूध दूषित करते रहते हैं। ब्याने के कुछ ही दिनों बाद पशु के दूध में इनकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है। यों तो परीक्षकों को धोखा देने में ये स्वयं ही बहुत पटु हैं फिर यदि दूध की रासायनिक जांच ही न की जाए तो रास्ता और भी अधिक साफ हो जाता है। यह बात दूसरी है कि आप पीने से पहले दूध अच्छी तरह उबाल लें। जीवाणु दूध और दूध से बने पदार्थों में ही नहीं पशु के मांस में भी मौजूद रहते हैं और पशु के ब्याने के समय के स्राव और जेर में भी होते हैं। मल-मूत्र में भी निकलते हैं। चरागाहों में छह मास तक जीवित रह सकते हैं यह जरूरी नहीं कि रसोई के रास्ते

ही वे मनुष्य की आंतों तक पहुंचें। मौका लगने पर त्वचा-बेध कर शरीर में सीधे प्रवेश कर जाते हैं। इनके सम्पर्क मे जाने के बाद बिना हाथ धोए ही खान-पान करने वाले लोग अपनी ही अगुलियो से जहर खा लें तो जीवाणुओं का क्या दोष ?

पशुओं मे यह रोग बडी तेजी से फैलता है। फिर यह भी पता लगाना आसान नही कि आपकी रसोई मे पहुंचने वाला दूध या मांस, वास्तव मे कहां से, और कैसे पशु से आया है। इसलिए इनसे छुटकारा पाने और स्वस्थ बने रहने का एकमात्र उपाय है दूध या दूध से बने पदार्थों का पास्चुरीकरण या उन्हे कस कर उबालना और सफाई का समुचित ध्यान रखना। पशुओ को समय रहते टीका लगवाना और आवश्यकता पड़ने पर तुरंत डाक्टर की सलाह लेना।

यक्ष्मा जैसे राज-रोगो से कौन परिचित नही है। बेसिलस ट्यूबर्कुलासिस नामक दण्डाणु शरीर को घुन की तरह खोखला कर देता है। रोग लम्बी अवधि तक चलता है और रोगी मरने तक किसी न किसी को रोग का वारिस बना ही लेता है। रोगी से यदि आप पूरी तरह सावधान रहें तो भी खतरा टल नही जाता। क्योकि विश्व की जनसंख्या का एक बड़ा भाग गोवंश से उत्पन्न यक्ष्मा से संक्रमित है और अकाल मृत्यु सुरसा के मुख की भांति उसे निगलने के लिए बढी चली आ रही है हम जितनी तेजी से सभ्य हो रहे है, शायद उतनी ही तेजी से मृत्यु के समीप पहुंचते जा रहे हैं। कुछ ही वर्ष पूर्व के ट्यूबर्कलिन टेस्ट के एक सर्वेक्षण में अधिकाश प्रौढ और 50% से अधिक बच्चे इस रोग से संक्रमित पाए गए। चिकित्सा की उपयुक्त सुविधाओं से रोगियो की संख्या मे पर्याप्त कमी हुई है किंतु दूध के माध्यम से संक्रमित होने की सभावनाएं आज भी कुछ कम नहीं हैं।

मायोबैक्टीरियम ट्यूबर्कुलोसिस के तीन विभेदों मे से गो-पशुओं का जीवाणु मनुष्य में भी तीव्र गति से विकास करता है। फेफड़ो के बजाय इसे शरीर की अस्थिया और जोड़ अधिक प्रिय हैं। म्यूसिन रक्षा-कवच के

भीतर यह कई सप्ताह तक जीवित बना रहता है तथा सूखे आदि की बाधाओं को बड़े मजे से पार कर जाता है। धीरे-धीरे स्वास्थ्य क्षीण होने लगता है और विशेषत. अधिक आयु के रोगियों के ऊतक नष्ट हो जाते हैं। पशुओं का यदि अयन संक्रमित हो तो थन कड़े हो जाते हैं तथा दबाने पर थनो में पीड़ा नही होती। प्रारंभ में दूध मे विशेष परिवर्तन नही होता किंतु बाद में दूध पतला हो जाता है। उसे रख दिया जाए तो हरे-पीले रंग का हो जाता है और लसदार पदार्थ नीचे जमा हो जाता है।

पशुओं के सपर्क में रहने वाले लोग दूषित वायु और अन्य दूषित पदार्थों के रखरखाव के समय संक्रमित हो सकते हैं किंतु रोगी पशु का दूध यदि आप की रसोई मे पहुंच गया तो खैर मनाइए। मूल रोगी भले ही सैकड़ों मील दूर हो। आपके सामने परोसी गई थाली मे रखने से पहले दूध या दूध से बनी चीजो का पास्चुरीकरण नही किया गया है तो अनजाने में ही आपके साथ वह सब कुछ कर दिया गया है जो आपका जानी दुश्मन आपके साथ करता।

डैरिक ने 1937 में आस्ट्रेलिया के क्वींसलैंड प्रांत मे न्यूमोनिया से मिलते-जुलते एक अन्य रोग का पता लगाया। रोग क्यो होता है— इसका उत्तर उस समय उपलब्ध न हो सका। इसलिए अनजाने में ही इसका नामकरण ज्वर हो गया। बाद में रिकेट्सिया (काक्सीला) बर्नेटी इसके लिए उत्तरदायी ठहराया गया। मनुष्य में इसके कारण आहार-विषाक्तता या इफ्लुएंजा और सिरदर्द से मिलते-जुलते रोग लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। बकरी, भेड़, गाय, प्राकृतिक रूप से रोगी पाए जाते हैं। इस रोग का रिकेट्सिया कठिनाई से नष्ट होता है। यद्यपि पास्चुरीकरण से अधिकांश रिकेट्सिया नष्ट हो जाते हैं किंतु जल्दबाजी करने से कुछ जीवित भी रह जाते हैं।

गाय, भेड़, बकरियों मे रोग के स्पष्ट लक्षण प्रकट नही होते। पशु पालक इसलिए रोगी पशुओं की ओर विशेष ध्यान न दें तो कोई आश्चर्य की बात नही। रिकेट्सिया काफी लम्बे समय तक दूध के साथ निकलते

रहते है। ब्याते समय जेर में काफी सख्या में मौजूद रहते है। इस तरह ब्याने के बाद पशुओं का बिछावन और चारों ओर का वातावरण ऐसे शक्तिशाली रिकेट्सिया से दूषित हो जाता है जिन्हे सुखाने पर भी आसानी से नष्ट नही किया जा सकता। पशुओ का दूध पीने वाले बछडों के गोबर में भी रिकेट्सिया मौजूद रहते है। रोग लग जाने पर ये मनुष्य के थूक और मूत्र के साथ निकलते है तथा रक्त मे मौजूद रहते है।

रोग मुख्यतः रिकेट्सिया से दूषित वायु मे सास लेने से लगता है। कई बार ऐसा भी देखा गया है कि दूध निकालने के बर्तनों के छू लेने मात्र से ही रोग की छूत लग गई। रोगी के कपड़े धोने वाले धोबियो तक को रोग लगते देखा गया है। एक बार तो एक मनुष्य पशुओ के बाड़े मे पैर रखते ही रोगग्रस्त हो गया था। रोगी पशुओं पर रहने वाली जू भी रोग-ग्रस्त हो जाती है तथा रिकेट्सिया जू के मल के साथ निकलकर वायु को दूषित कर देते है।

रोगी पशु के दूध मे ये रिकेट्सिया बडी सख्या मे और काफी लम्बी अवधि तक निकलते हैं तथा दूध उबालने पर भी सबके सब नष्ट नही हो पाते। इसलिए रोगी पशु का दूध पीने वाले लोगो को भी रोग की छूत लग सकती है। किंतु रोग बहुधा श्वास के साथ शरीर में प्रवेश करता है तथा पशुओं के समीप से उड़कर आने वाली धूल से बचे रहना कोई आसान काम नही है।

एक जर्मन पत्नी ने 1866 मे गरीबी से उकताए हुए और आलस्यपूर्ण जीवन बिताने वाले अपने पति राबर्ट कोच को कसकर न डांटा होता और सूक्ष्मदर्शक न लाकर दिया होता तो कौन जानता है कि बेसिलस एंथ्रेसिस के दर्शन शायद हम आज तक न कर पाते।

स्पोर बनाने वाला यह जीवाणु गाय, भैंसों और भेड़, बकरियों में प्राणघातक रोग उत्पन्न करता है। पशु की जीवनलीला कुछ ही समय मे समाप्त हो जाती है। मल-मूत्र या शरीर के अन्य स्रावों के साथ निकले जीवाणु स्पोर बना लेते हैं और भूमि पर चुपचाप पड़े रहते है। विषय

वातावरण का जीवाणु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किंतु यदि भाग्य से इसे सामान्य तापमान, निचली दलदली भूमि, पशु पदार्थ और पौधे सड़ने वाले स्थान उपलब्ध हो जाएँ तो फेमिली-प्लानिंग की सारी स्कीम फेल कर देता है। इतना ही नहीं हजामत के ब्रुशों, पशु के बालों, खाल, ऊन, मोटे रेशों, हड्डियों और हड्डियों के चूरे तथा अन्य अखाद्य पदार्थों में भी मौजूद रहता है।

ब्रुश बनाने वाले कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों में इस रोग के जीवाणु श्वास के साथ फेफड़ों में चले जाते हैं। इसीलिए इसका नाम वूलसार्टर-रोग पड़ गया है। रोगी पशु की खाल के रख-रखाव में भी रोग की छूत लग सकती है। बूचड़खाने में पशुओं को जीवन से मुक्त करने वाले बूचड और टीका लगाकर पशुओं को जीवनदान देने वाले पशु-चिकित्सक दोनों पर ही ये समान रूप से आक्रमण करते हैं तथा किसी घाव या खरोंच के रास्ते प्रवेश कर जाते हैं। ठीक समय पर पता चल जाए तो त्वचा-एंथ्रेक्स से मरने वाले मनुष्यों की जान बचाई जा सकती है किंतु इससे भी ज्यादा जरूरी बात यह है कि पशु-पालकों को इस रोग की भयानकता से अवगत कराया जाए ताकि वे अपने पशुओं को समय रहते एंथ्रेक्स रोधी वैक्सीन का टीका लगवा लें तथा एंथ्रेक्स से मरने वाले पशुओं की खाल न उतारें। पशुओं की लाश या तो जला दें या जमीन में चूने की परत बिछाकर मृत पशु को कम से कम छ: फुट गहरे दबा दें।

मांस खाना उचित है या अनुचित, यह विवाद का विषय है। किंतु चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से मांस सोच-समझकर और देखभाल कर खाना चाहिए। डेगची में भले ही यह खूब उबाल लिया जाए किंतु इसके पहले ही मांस रोग फैलाने का अपना उत्तरदायित्व लगभग निभा चुका होता है। खरीदने के समय से लेकर चूल्हे पर पहुंचने तक यह जिस बर्तन या व्यक्ति के सम्पर्क में आता है, कुछ न कुछ दान कर ही देता है। ट्रिचिनेला स्पाईलिस जैसे गोल कृमि पेट में पहुंच ही जाते हैं और विश्व की लगभग 15-20 प्रतिशत जनसंख्या के शरीर में आज भी पल रहे हैं। सूअर

का मांस खाने वाले लोगों का मांस तो इनकी कई पीढ़ियों के लिए स्वतः ही सुरक्षित हो जाता है।

सामान्य रोगियों में रोग के लक्षण बिरले ही प्रकट होते है। ये संक्रमण बहुत तीव्र हो जाएं तो ज्वर, अतिसार, तीव्र पीड़ा और मासपेशियों में जलन हो जाया करती है। एक-दो सप्ताह के बाद आरामहो जाता है किंतु कभी-कभी न्यूमोनिया हो जाता है। और प्राणांत हो जाता है। वयस्क कृमि आत में कुछ ही समय तक रहता और अतिसार उत्पन्न करता है। किंतु लार्वापेशियों मे घुस जाते हैं और पुटियां बनाते है। इसी से ज्वर और पीडा उत्पन्न होती है।

बूचड़खानों का कच्चा और बेकार समझा जाने वाला मांस सूअरों के आगे डाल दिया जाता है। चूहो के शरीर में भी ये गोलकृमि खूब मजे से पलते हैं और बिल्ली के पेट तक पहुँचते है। सूअर या चूहों को कच्चा चबाने वाले लोगों की दुनिया मे कमी नही है। किंतु पका कर खाने वाले भी अक्सर लापरवाही कर जाते है। फिर ट्रिचिनेला स्पाइरेलिस भी कोई इतना नाजुकमिजाज नही कि साधारण गर्मी मे ही प्राण त्याग दे। एक भी जीवित पुटी यदि आंत मे पहुंच गई तो बड़ी तेजी से विकास होता है। एक मादा लगभग 1000 जीवित भ्रूण आंत की भित्ति मे जमा कर देती है। भ्रूणकोशिकाओं को बेधकर मांसपेशियों मे चले जाते है और एक रक्षा-कवच के भीतर कई वर्षों तक चुपचाप पड़े रहते है।

टीनिया सेजिनाटा नामक फीते के आकार का कृमि केवल मनुष्य की आत मे पाया जाता है किंतु इसके लार्वा गाय के ऊतकों में विकास करते हैं और दानों के रूप मे मांस पर उभर आते हैं। ऐसी दशा 'मीजिल्स' या 'मीजली-बीफ' कहलाती है। मानव मल से दूषित घास चरने से ये फीता कृमि गाय के शरीर मे पहुंच जाते है और लगभग 18 सप्ताह मे पूर्णतया विकसित हो जाते हैं। विकसित ब्लैंडर-वर्म (आशय कृमि) दुग्धधवल, गोल या अंडाकार होते हैं तथा पेशियो में पुटी बना लेते हैं। कच्चा या अधपका मांस खाने से ये कृमि मनुष्य के शरीर मे प्रवेश कर जाते

हैं। आपने साधारण सांप तो एक-दो मीटर के ही देखे होंगे किंतु इनकी सामान्य लम्बाई 4-8 मीटर होती है तथा कभी-कभी तो 15 मीटर तक लम्बे हो जाते हैं। एक कृमि में 2000 तक देह खंड होते हैं जिनमें से प्रत्येक में लगभग एक लाख अंडे होते है। मनुष्य के मल में निकलकर ये इधर-उधर घूमना प्रारंभ कर देते है और कभी-कभी तो शरीर, कपड़ों और चारपाई बिस्तर आदि पर रेंगते देखे गये है। विश्व में आज 4 करोड़ से भी अधिक लोगों के शरीर में ये जीवित सर्प मौजूद हैं।

दूसरी ओर 3-5 मि० मी० लम्बा टीनिया सोलियम नामक एक बौना फीताकृमि सूअर के मांस के साथ मनुष्य के शरीर में पहुंचता है। इसके एक सगर्भा खंड में लगभग 40,000 अंडे होते हैं जो छोटे-छोटे समूहों में मल के साथ निकलते रहते हैं। मानव-शरीर के भीतर कृमि लगभग 25 साल तक जीवित बना रहता है। यह मानव विष सूअर खा लेता है। अंडों से निकले लार्वा आंत से जिगर में और बाद में समूचे शरीर में पहुंच जाते हैं और सूअर के अधपके मांस के साथ शरीर में। सूअर ही नहीं अपितु भेड़, बकरी, घोड़ा, कुत्ता, रीछ और बंदर तक के शरीर में ये आस्तीन के सांप मौजूद रहते हैं और मानव-शरीर की ओर घात लगाकर बैठे रहते हैं।

पशुओं से हमें दो-चार नहीं सैकड़ों रोग लगते हैं किंतु इसका यह मतलब नहीं कि पशुओं का उन्मूलन कर दिया जाए। इन नेक प्राणियों ने मानव-इतिहास के प्रारंभ से ही मनुष्य की सेवा की और अपना दूध, खाल, मांस ही नहीं जान तक देकर मानव समुदाय की रक्षा की है। ये गरीब स्वय अपने बच्चों को दूध पिलाते हैं और अपना मांस देकर आपका मांस बढाते हैं। हम इनसे घृणा करने लगे तो स्वयं कष्ट में पड़ जाएंगे। आवश्यकता इस बात की है कि यदि पशुओं के हित में नहीं तो कम से कम अपने हित में हम पशुओ की सही देखभाल करना सीखें और रोग का संदेह होते ही इन्हें रोग-मुक्त कराने का उपक्रम करें।

12

बिस्तर के साथी

मनुष्य की बहादुरी के कारनामे लिखने में कागज की महंगाई के इस युग में भी इतिहासकारों ने न जाने कितने पन्ने रंग डाले हैं। कहते है, आदम की औलाद ने अपनी शक्ति और बाहुबल के आगे देवताओं तक को झुका दिया। फरहाद ने तो पहाड़ खोदकर नहर ही निकाली किन्तु दस शीश रावण तो स्वय कैलाश को ही अपनी भुजाओं पर उठा लिया करता था। उलाइसिस के शौर्य से प्रभावित न जाने कितनी देवागनाएं उसकी अंकशयनी बनने के लिए लालायित थी। फिल्म के हीरो को तो आपने भी एक साथ कई शेरों से मल्लयुद्ध करते देखा होगा और टार्जन को एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर छलांग लगाते देखकर यदि आपने नही तो कम-से-कम आपके आस-पास बैठे लोगों ने जरूर अगली कुर्सी पर छलांग लगा दी होगी। किन्तु सुबह की सुनहरी धूप में दीवार से कमर लगाकर एक के बाद दूसरी जूं को कत्ल करने वाले यदि एक भी बहादुर को देख लिया है तो समझ लीजिए जन्म सफल हो गया। कमीज की सीवन, धोती की शिकन, या लहंगे की गूथन में बने पक्के पिल बाक्सों में से घुसपैठियों को ढूंढ-ढूंढ कर बाहर निकालना और फिर बिना किसी अस्त्र-शस्त्र के सबको मौत के घाटउतारन कोई मामूली कमाल नहीं है। सारी प्रक्रिया में एक क्षण के लिए भी आराम नही। माथे का पसीना तक पोंछने की फुरसत नही। पता नहीं इन काव्योर उपेक्षित उपेक्षिताओं की ओर साहित्यकारो का ध्यान अब तक क्यों नहीं गया। अधिक नहीं तो एकाध सहज कविता तो इन पर लिखी ही जा सकती थी।

जू तो फिर भी सीधा प्राणी ठहरा किंतु खटमल का तो नाम सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। आखिर आदमी का खून है। कुछ लोगों के तो शब्द ही दूसरों को जलाने के लिए पर्याप्त होते हैं। फिर मनुष्य के रक्त पर पले इन खटमलो के वंश में क्या इतनी भी शक्ति नही होनी चाहिए थी कि काटते ही समूचे शरीर में झन्नाहट उत्पन्न हो जाए। बिस्तर पर लेटते ही चारपाई की पाटियो और पायों से निकलकर जिस समय ये गुरिल्ले घात लगाकर हमला करते हैं तो बड़े-बड़े बहादुर मैदान छोड़कर भागते देखे गए हैं। गुरिल्ला तो बेचारा मुफ्त बदनाम है अन्यथा गुरिल्ला युद्ध की व्यूह रचना चीनियों और उनके भाई-बन्दों ने इन्ही खटमलों से सीखी है। वस्तुतः इस आधुनिकतम युद्ध प्रणाली का नाम 'गुरिल्ला युद्ध' की बजाय 'खटमल युद्ध' होना चाहिए। ब्रह्मांड की रचना करते ही ब्रह्मा को अपनी भूल का आभास हो गया था। इसलिए कमल नाल को छोड़कर कभी उन्होने चारपाई पर आने की हिम्मत नही की। शिवजी कैलाश पर चले गए और विष्णु क्षीर सागर मे और वह भी नाग शैया पर। ये सभी त्रिकालदर्शी थे और खटमलो के पराक्रम से पूर्व परिचित थे। इसलिए चारपाई पर शयन करने का विचार इन्होने अपने मन मे आने ही नही दिया।

पुनर्जन्म में यदि आपका विश्वास न भी हो तो भी कम-से-कम इतना तो मान ही लीजिए कि बिस्तर पर लेटते ही गुनगुनाकर आपकी नीद हराम करनेवाले ये मच्छर अपने पूर्व जन्म मे बड़े पहुंचे हुए साहित्यकार थे। अपने भाव प्रकट करने के लिए इन्होंने साहित्य की विविध विधाएं अपनायी थीं और उसी के अनुसार कोई क्यूलेक्स बना और कोई एनाफलज। मौका लगते ही ये आपके कान पर तशरीफ ले आते हैं और अपनी रचनाएं सुनाने लगते हैं। काटना इनका पेशा नही है। लेकिन जब आपका ध्यान दूसरी ओर चला जाता है अथवा आप पूरी रचना सुने बिना ही सोने लगते हैं तो यह बस यों ही जरा हल्के से चिकोट लिया करते हैं।

इत्र और तेल फुलेल से सजे सुहावने सलोने बिस्तर पर लेटकर आप जब भी एकाकीपन महसूस करते हैं, तो मच्छर, खटमल या जूं मे से कोई

न कोई हाजिर हो ही जाता है। डरने की आवश्यकता इसलिए नहीं है क्योंकि इनमें कोई भी मासाहारी नही होता। यो रक्त तो सभी पीते हैं किंतु ये रक्त भी कभी मुफ्त मे नही पीते। बीच-बीच मे इसके बदले कुछ रोगदान भी करते रहते हैं।

टाइफाइड ज्वर एक ऐसी ही बीमारी है जो जू, पिस्सू और माइट से मिलती है। जूं से उत्पन्न होने वाला टाइफस ज्वर महामारी के रूप मे फैलता है और मृत्युदर बहुत अधिक होती है। रोग यद्यपि सार्वभौमिक है किंतु गरीबी और भीड-भाड वाले घरो मे तथा अकाल पीड़ितो आदि मे कही अधिक तेजी से फैलता है। समाज के पिछड़े लोगो मे जहां स्नान करने के लिए साबुन तक उपलब्ध नही अथवा पेट की आग बुझाने के लिए काम करते समय स्नान तक करने का समय नही, वहां जूं की आबादी बहुत अधिक बढ जाए तो आश्चर्य ही क्या है। दूसरे लोगो से कपड़े बदलने से, रोगी के बिस्तर पर बैठने से या उसके सम्पर्क में आने से जू बड़ी आसानी से दूसरे लोगो मे चली जाती है। कपडे गदे रखने से या स्नान आदि न करने से या सिर के बाल न धोने से जू की संख्या बहुत बढती है। एक बार एक साहब का कमीज में 10, 428 जू और 10, 253 जू के अण्डे पाए गए। जूं जब मनुष्य का रक्त चूसती है तो टाइफस ज्वर का रिकेट्सिया उस मनुष्य के शरीर मे चला जाता है।

यह रोग मुख्यतया शरद और वसन्त में फैलता है। लगभग दो सप्ताह तक तेज बुखार आता है। कमर में दर्द, सिर में तेज दर्द, श्वसनी दोष और मानसिक विकार हो जाता है। चेहरे पर तनाव आ जाता है, पांचवें-छठे दिन सीने और पेट पर लाल रंग के चकत्ते पड़ जाते हैं जो बाद मे समूचे शरीर पर फैल जाते हैं। रोग के कारण 13-75 प्रतिशत तक रोगियो की मृत्यु हो जाती है। रूस में नवम्बर, 1941 मे इस रोग के कारण 2,50, 00, 000, 30, 00, 000 लोग चल बसे। 1942 मे मिस्र में 3,000 और शेष उत्तरी अफ्रीका मे 8,000 लोग इस रोग से पीडित थे। सितम्बर 1943 में जब विदेशी फौजें 10 लाख की आबादी वाले शहर नेपल्स में

घुसी तो मरणासन्न और मृत मनुष्य बराबर-बराबर पड़े थे तथा उनके शरीर पर बेशुमार जूं रेंग रही थी। इस महामारी में लगभग 81 प्रतिशत लोग जान से हाथ धो बैठे। इस रोग के रिकेट्सिया का पता लगाने वाला वैज्ञानिक रिकेट्स स्वयं इसी रोग मे मरा था।

1907 में मैकी ने भारत में अपने अनुसन्धानो के आधार पर इस बात की पुष्टि की कि पुनरावर्ती ज्वर जू के कारण होता है। रोग के स्पाइरोकीट जू की आहार नली मे रहते हैं। रक्त चूसने के पहले जूं अपनी आहार नली से एक प्रकार का स्राव त्वचा पर डाल देती है ताकि चूसते समय रक्त जम न जाए। इस स्राव में रोग के स्पाइरोकीट होते हैं। नाखूनों से जू मारते समय स्पाइरोकीट जू से निकलकर नाखूनों के भीतर चले जाते हैं और शरीर खुजाते समय त्वचा के रास्ते शरीर में प्रवेश कर जाते है। रोग अचानक शुरू होता है। सिर दर्द, कपकंपी और ज्वर हो जाता है। शरीर मे दर्द होता है। 4-6 दिन तक तेज बुखार रहता है, 4-8 दिन शांत रहने के बाद बुखार दुबारा हो जाता है।

टाईफस रोग से बचाव के लिए वैक्सीन उपलब्ध है और जू यदि काफी संख्या मे हों तो भी रोग लगने का डर नही रहता किन्तु इसका यह अर्थ नही कि कोई जानबूझकर गन्दा रहना प्रारम्भ कर दे और इस घिनौने प्राणी को अपने शरीर पर आश्रय देता रहे। डी० डी० टी से जूं बड़ी आसानी से नष्ट की जा सकती है। इसके लिए शरीर के कपड़ो पर तीन सप्ताह बाद डी० डी० टी० छिडकते रहना चाहिए। बालों को और कपड़े की सीवनों से जूं और इनके अंडो को नष्ट करना बहुत जरूरी है। किन्तु डी० डी० टी० छिड़कने का काम बहुत सावधानीपूर्वक और समझदारी से साथ किया जाना चाहिए। कही ऐसा न हो कि परजीवी और पारपोषी साथ-साथ चल बसें।

जू की ही तरह खटमल भी मनुष्यो के सदियों पुराने साथी हैं। अरस्तू ने इनकी चर्चा की है। ये निशाचर है अर्थात् रात्रि के समय ही सैर-सपाटे के लिए निकलते हैं। काला धन्धा करने वालों के समान ही इनमें भी सूर्य

के प्रकाश में आने की हिम्मत नहीं है। ये बड़े समाज प्रिय होते है। इसलिए जहां भी मिलते है एक साथ सैंकड़ो की सख्या मे मिलते हैं, मादा 10से 50 के समूहों में 200-500 नक अंडे देती है। इनसे निकले बच्चे लगभग 6-8 सप्ताह मे पूर्ण युवा हो जाते है। खाने-पीने की उचित व्यवस्था हो तो सामान्य तापमान पर खटमल 54 से 316 दिन तक जीवित रह सकता है।

सभा-सम्मेलनो में मनुष्यो के साथ खटमल भी बराबर भाग लेते रहते है। वस्त्रों, कपड़ों, सूटकेसो या अन्य वस्तुओ के आदान-प्रदान के साथ खटमलों का भी आदान-प्रदान होता रहता है। आहार की कमी होते ही ये पानी के पाइपो, दीवारों या अन्य मार्गों से पडोसी के घर पहुंच जाते है। इनके काटते ही जलन और हलकी सूजन हो जाती है। यौवन-प्राप्त करने के लिए खटमल कम-से-कम पाच बार मनुष्य का रक्त पीता है। इनमें प्लेग, पुनरावर्ती ज्वर, कोढ़, काला-अजार और शागा रोग के रोगाणु वहन की क्षमता है।

मच्छरों से मलेरिया फाईलेरिया ही नही अपितु शीत ज्वर, डेंगू, मस्तिष्क शोथ और अन्य अनेक रोग होते हैं। मलेरिया के संबंध मे चीनियों का विश्वास था कि रोग की प्रक्रिया मे तीन पिशाच आक्रमण करते है। पहला हथौड़ा बजाता है और सारा शरीर टूटने लगता है। दूसरा आग बरसाता है जिससे तेज बुखार चढ जाता है और तीसरा ऊपर से एक घड़ा पानी डाल देता है। यूरोपियन तो बहुत बाद तक इसे बुरी हवा से उत्पन्न रोग समझते रहे, किंतु चरक बहुत पहले तीनों प्रकार के ज्वरो का वर्गीकरण कर चुके थे। बाद मे .रोग के कारण कार्य का संबंध भी भारत में ही स्थापित हुआ। सर रोनाल्ड रोस को अपने इस अनुसन्धान के लिए 1897-98 में दो बार नोबेल पुरस्कार मिला। मनुष्यों में प्लाज्मोडियम वंश की मुख्यत: तीन जातियों से मलेरिया होता है और इन्ही के अनुसार ज्वर रोजाना, तीसरे दिन या चौथे दिन चढ़ता है। रक्त परीक्षा से रोग का पता चल जाता है किन्तु यह काम बहुत सरल नही है। रोगाणु लाल रक्त कोशिकाओ को आक्रांत करते हैं। किन्तु रोग तभी प्रकट होता है

जब प्रति एक लाख लोहित कोशिकाओं में से कम-से-कम एक कोशिका में परजीवी पहुंच जाएं अर्थात् एक घन सेन्टीमीटर रक्त में 50 परजीवी विद्यमान हों। इसका अर्थ यह हुआ कि रोग के प्रकोप के समय 64 किलोग्राम भार वाले एक मनुष्य मे कम-से-कम 15 करोड परजीवी होते हैं। मनुष्य के रक्त में लोहित कोशिकाओं की संख्या इतनी अधिक होती है कि 15 करोड़ परजीवी संख्या के आधार पर विशेष महत्त्व नहीं रखते तथा रक्त परीक्षा मे तनिक-सी लापरवाही से ही जांच के परिणाम गड़बड़ा जाते हैं। यही कारण है कि भारत में मलेरिया उन्मूलन पर इतना अधिक धन खर्च करने के बाद भी रोग जब-तब प्रकट होता रहता है।

एनोफलीज जाति की एक मादा अपने जीवन काल में लगभग 1000 तक अंडे दे देती है। ये अंडे शांत जल पर तैरते रहते हैं। अंडे से लगभग 2 दिन मे लार्वा निकल जाते हैं तथा कुल मिलाकर लगभग तीन सप्ताह में काटने योग्य हो जाते हैं। रक्त चूसते समय यदि मनुष्य के रक्त में मलेरिया परजीवी विद्यमान हों तो रक्त के साथ ही मच्छर के शरीर में चले जाते हैं। एनोफलीज मच्छरों की लगभग 400 जातियों में से केवल 85 जातियों के शरीर में रोगाणुओं का विकास होता है और वह भी केवल मादाओं के शरीर में। लगभग दो सप्ताह में मच्छर के शरीर मे परजीवी का लैंगिक चक्र पूरा हो जाता है तथा परजीवी मच्छर की लार ग्रन्थि में पहुंच जाते हैं और अगली बार जब मच्छर मनुष्य को काटता है तो लार के साथ ये मानव रक्त में प्रवेश कर चुके होते हैं और लगभग आधे घंटे में ही जिगर (यकृत) और तिल्ली (प्लीहा) जैसे सुरक्षित स्थानों में पहुंच जाते हैं। जहां रोग की रोकथाम के लिए की जानेवाली साधारण औषधियां असर नहीं कर पाती हैं। परजीवी निश्चिंत होकर अपनी संख्या बढ़ाते रहते हैं और यदि सब कुछ इनके अनुकूल रहे तो लगभग 14 दिन में रोगी पर तीनों चोनी पिशाच आक्रमण कर रहे होते हैं।

मस्तिष्क शोथ और कई अन्य रोग तो मच्छरों की कृपा से फैलते ही हैं किन्तु फाइलेरिया के कारण हजारों-लाखों हसीनों का रूप बिगड़ते देखा

संक्रमण के अनेक वर्षों बाद होता है। वुचेरेरिया मेलेयी फाइलेरिया रोग उत्पन्न करने वाली एक अन्य जाति है और यह भी वुचेरेरिया बेन्क्राफ्टाई के समान भयानक है। यह भारत, लंका, थाई देश, पूर्वी द्वीप समूह, फिलीफीन द्वीप समूह और न्यूगिनी में रोग उत्पन्न करती है।

मलेरिया, फाइलेरिया, टाइफस या पुनरावर्ती ज्वर आदि के कारण यदि रोगी की मृत्यु न भी हो तो भी वह इतना अधिक कमजोर हो जाता है कि स्वस्थ होने के काफी दिनों बाद तक भी काम करने की शक्ति उत्पन्न नहीं हो पाती है। स्वास्थ्य तो खराब होता ही है, साथ ही आर्थिक कठिनाइयां भी उत्पन्न हो जाती हैं। जो हाथ अपना और अपने आश्रितों का पेट पालने में सहायता करते हों यदि वे ही रोग की हालत में चारपाई पर पड़े मक्खी मारा करें तो दवा तक के पैसे संजोना कठिन हो जाता है। गरीबी और भुखमरी और भी तेजी से बढ़ती है। इसलिए दशा दिन-पर-दिन गिरती ही जाती है। इतिहासकारों का मत है कि ग्रीक और रोम साम्राज्यों का पतन मलेरिया के कारण हुआ और आज भी यदि हमें लगातार कमजोर, अशक्त, निःस्रोत बनाए रखने में यदि रोगों का हाथ है तो ये हमारे स्वयं के बिस्तर के साथियों से उत्पन्न होने वाले रोग हैं। आप ब्रह्मचर्य का पालन भले ही न करें और चारों आश्रमों में भले ही आपकी श्रद्धा न हो फिर भी कम-से-कम बिस्तर के इन साथियों से दूर रहें।

13

कहीं शौक महंगा न पड़े

चिड़ियां फंसाना और चिड़िया पालना मनुष्य का पुराना शौक है। कामरूप की जादूगरनियां तो सुना है चिड़ियों की इतनी शौकीन थी कि दूसरों की नजर से छुपाने के लिए आदम की औलाद को दिन मे तोते बनाकर पिंजड़ों मे बन्द कर लिया करती थी। पता नही कितने तोते इनके पिंजड़ों मे पड़े गुरुमन्त्र की तरह दिन-भर 'गंगाराम' 'तोताराम' रटा करते थे। दसवी सदी के आस-पास का हीरामन तोता तो इतना समझदार हो गया था कि उसने दूसरों को ही गुरु मन्त्र देना शुरू कर दिया। यद्यपि आज ऐसे लोगो की कमी नही है जो बाद मे गुरु को ही गुरु मन्त्र देने लगते हैं फिर भी आयात, निर्यात के युग में व्यर्थ ही वाद-विवाद करने, आपको सड़क चलते हजारों ऐसे देशी और विदेशी तोते मिल जायेंगे जो गुरुमन्त्र तक विदेशों से आयात करते हैं।

दूसरी ओर कबूतर को लीजिए। शान्ति के प्रतीक के रूप मे तो उसकी अभी हाल ही में तरक्की हुई है अन्यथा ये प्रेमियों के प्रेम पत्र पहुँचाने वाले डाकियों के रूप मे प्रसिद्ध हैं। कितने ही बीहड़ रेगिस्तानों और ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों की चोटियो को पार करते हुए सैकड़ों-हजारों मील की दूरी पर बसे प्रेमियों की गुप्त चिट्ठियां इन्होंने चुटकी बजाते ही एक-दूसरे के पास पहुँचाई हैं और कई बार तो अपना फर्ज निभाते हुए बहादुरी के साथ जान तक दे दी है। नूरजहां और सलीम के प्रेम का तो प्रारम्भ ही कबूतरों के मजाक से हुआ था। यही कारण है कि इस बेतार के युग मे भी इनका नाम सम्मान से लिया जाता है और एक बार मध्यावधि चुनाव में

देश के इन विश्वास पात्रों की सेवाओं का समुचित लाभ उठाया गया है।

मुर्गा घटे और घड़ियों की ईजाद के बहुत पहले से प्रात:कालीन अलार्म का काम देता आ रहा है। एक टांग ऊपर उठाकर और आकाश की ओर मुंह करके मुर्गा जिस शान से बांग देता है उनके स्वरों का वर्गीकरण तो कोई संगीत शास्त्री ही कर सकेंगे किन्तु कई दीवानों को उसकी आवाज की नकल करते अवश्य देखा है। यों बेवकूफी की नकल करना कोई आसान काम नहीं है। दस-पन्द्रह पटरानियों और पचासों रानियों से घिरा हुआ कलगी ऊपर उठाकर मुर्गा इधर-उधर देखता हुआ शानदार मध्यम चाल से चलता है कि मध्यकालीन शहनशाहों की याद ताजा हो जाती है। फिर, इसके अण्डों के प्रोटीन और विटामिनों का रात-दिन बखान करते तो सैकड़ों डाक्टरों को सुना ही होगा। सम्भवतः यही कारण है कि तोता, कबूतर, मुर्गा और न जाने कितने पक्षी अनन्तकाल से मनुष्य के साथी रहे हैं। कितनों ही को तो उल्लू पालते देखा है। अपना-अपना शौक है। किसी को क्या ऐतराज हो सकता है ?

आर्नियोसिस या शुक रोग एक ऐसे ही शौक का परिणाम है। पहले समझा जाता था कि यह केवल तोतो के कारण उत्पन्न होता है किन्तु बाद में पता चला कि यह चिड़ियों के सामीप्य में रहने वाले सभी लोगों को हो सकता है। इस रोग का वाइरस लिम्फोग्रेनुलोमा वेनीरियम के वाइरस से समीपतः सम्बन्धित है। यह रासायनिक विसंक्रामकों से, तथा 60° सेंटीग्रेट तापमान पर आसानी से नष्ट हो जाता है किन्तु सूखे और हिमीकरण से प्रभावित नहीं होता है।

तोते, बत्तख, कबूतर, मुर्गियां आदि पालतू पक्षी घरों में बड़े प्रेम से पाले जाते हैं और बहुधा मनुष्य के हाथों पर बैठते रहते हैं। पक्षियों में रोग की तीव्र दशा में तो रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं अन्यथा ये पक्षी ऊपर से स्वस्थ दिखाई देते रहते हैं और आस्तीन के सांप सिद्ध होते हैं। वाइरस पक्षियों के मल में रहता है और कभी-कभी श्वास मार्ग में भी निकलता है। पक्षियों का मल यद्यपि धरती पर [illegible] धूल में [illegible]

जाता है, किन्तु वाइरस नष्ट नही होता। पक्षियों के पंख भी उनके मल में सने रहते हैं और जब पक्षी पंख फड़फड़ाते हैं तो वाइरस से वायु दूषित होती है। वाइरस से दूषित धूल, श्वास के साथ मनुष्य के फेफड़ो मे चली जाती है। 7-15 दिन मे (बहुधा 10 दिन मे) रोग के लक्षण प्रकट होने लगते है।

रोगी होने पर मनुष्य मे न्युमोनिया से मिलते-जुलते लक्षण उत्पन्न होते हैं। मन्द ज्वर रहता है जो कई दिनों तक चलता है। एन्टीबायटिकों की खोज के पूर्व अधिकांश मनुष्य परलोक सिधार जाते थे, किन्तु अब भी इस संक्रमण से मरने वाले रोगियों की संख्या 10 प्रतिशत के आसपास है। अनेक लोगों मे रोग के स्पष्ट लक्षण नही मिलते, किन्तु प्रयोगशाला में रक्त की जांच करने से स्थिति स्पष्ट हो जाती है। रोगी के थूक आदि में वाइरस मौजूद रहता है तथा स्वस्थ लोगों को भी छूत लग सकती है। कभी-कभी तो समूचा परिवार रोगग्रस्त हो सकता है। किन्तु पालतू पक्षियों की यदि समुचित देखभाल की जाए तथा समय-समय पर उनका उपचार करते रहें तो छूत से बचा जा सकता है। यों तो कभी-कभी चिड़िया-घर मे जाने पर भी काफी दूर से लोग बीमार पड़ते देखे गए है, किन्तु इन महबूबो से फासला ही अच्छा।

इनसिफेलाइटिस या मस्तिष्क की सूजन भी पक्षियो के शौक से सीधे संबंधित है। यह सुन कर भले ही आप चौंक पड़ें और आगे पढ़ने का सिरदर्द लेने को तैयार न हो, किन्तु मस्तिष्क शोथ में सिरदर्द ही नहीं अपितु सुस्ती या उत्तेजना, मानसिक व्याकुलता तथा परिवर्तित प्रतिवर्ष सामान्य रूप से मिलते है। मस्तिष्क कोशिकाएं बहुत अधिक संख्या मे नष्ट हो जाती हैं। रोगी यदि बच भी जाए तो भी कभी-कभी स्थायी मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क केन्द्र बड़ी आसानी से क्षतिग्रस्त हो जाते हैं।

संक्रामक मस्तिष्क शोथ प्राथमिक और गौण दो प्रकार का होता है। प्राथमिक मस्तिष्क शोथ मे शरीर पर रोग लक्षण प्रकट नही होते और

सीधे सम्राट (मस्तिष्क) पर आक्रमण होता है। तन्द्राकर मस्तिष्क शोथ, सेंटलुई मस्तिष्क शोथ, जापानी मस्तिष्क शोथ औरअश्वीय मस्तिष्क शोथ, अफ्रीकी निद्रा रोग और पागलपन इसी श्रेणी में आते है। दूसरे प्रकार के मस्तिष्क शोथ मे रोग लक्षण, पहले शरीर पर प्रकट होते हैं और बाद में जब रोग जटिल हो जाता है तो मस्तिष्क भी प्रभावित हो जाता है। क्यूलेक्स जाति के अनेक प्रकार के मच्छर पहले चिड़ियों का रक्त चूसते हैं और फिर रोग का विषाणु दूसरी चिड़ियों तक पहुंचा देते है। कभी-कभी ये बिस्तर की मच्छरदानी को बेधकर सीधे मनुष्य पर आक्रमण करते हैं। मच्छरदानी यदि लगी ही न हो तो पहुंच और भी आसान हो जाती है। विषाणु सीधे रक्त मे प्रवेश कर जाता है। पूर्वी देशों के अश्वीय मस्तिष्क शोथ में बहुधा मृत्यु हो जाती है। भाग्य से रोगी यदि बच भी गया तो मानसिक विकार उत्पन्न हो ही जाता है। पांच वर्ष से कम आयु के बच्चे अधिक रोगग्रस्त होते हैं। और रोग से ठीक होने के बाद भी इनकी दशा, भोजन खाकर जीवित रहने वाले पशुओं से भी बुरी होती है। देश के भावी होनहार युवक असहाय मूर्खों के रूप मे परिवर्तित हो जाते हैं, जिनसे बाद में उनके जन्मदाता तक घृणा करने लगते हैं। इस रोग के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला क्यूलेक्स टासेलिस मच्छर अब डी० डी० टी० या अन्य क्लोरीन युक्त यौगिकों से नहीं मरता और रोग के प्रसार को रोकने वाली आधुनिकतम औषधियां भी लगभग बेकार सिद्ध हो चुकी हैं। इसलिए रोग से छुटकारा पाने के लिए चिड़ियों से बचा रहना ही अधिक उपयोगी होगा, क्योंकि रोग का विष तो मच्छर इन्हीं से प्राप्त करते हैं।

पशुओं से भी बुरी होती है। देश के भावी होनहार युवक असहाय मूर्खों के रूप मे परिवर्तित हो जाते हैं, जिनसे बाद में उनके जन्मदाता तक घृणा करने लगते हैं। इस रोग के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला क्यूलेक्स टासेलिस मच्छर अब डी० डी० टी० या अन्य क्लोरीन युक्त यौगिकों से नहीं मरता और रोग के प्रसार को रोकने वाली आधुनिकतम

औषधियां भी लगभग बेकार सिद्ध हो चुकी है। इसलिए रोग से छुटकारा पाने के लिए चिड़ियों से बचा रहना ही अधिक उपयोगी होगा, क्योंकि रोग का विष तो मच्छर इन्ही से प्राप्त करते हैं।

मुर्गियां में रानीखेत रोग इतनी तेजी से फैलता है कि बात की बात में सैंकड़ों मुर्गियां मौत के घाट उतर जाती है। पक्षियों का दम घुटने लगता है। केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र प्रभावित हो जाता है तथा जठर आन्त्र विकार उत्पन्न हो जाते है। तेज अतिसार होता है। रोग इतना तीव्र होता है कि लक्षण प्रकट होते ही डाक्टर की नही, अपितु कफन की याद आती है। सक्रमित खूजो और मुर्गियो की देखभाल करने वाले कुक्कुट पालक और चिकित्सक ही नहीं अपितु रसोई मे पके मास की तारीफ करके अगुलिया चाटने वाले मेहमान तक रोगग्रस्त हो जाते है। मनुष्य में यह विषाणु सीधे आंख पर अहमता करता है और नेत्र श्लेष्मा शोथ उत्पन्न करता है। हलका बुखार और जुकाम से मिलते-जुलते लक्षण प्रकट होते है।

पक्षियों की विष्ठा मे फफूदी बहुत तेजी से वृद्धि करती है। इस रोग से सक्रमित होने के पश्चात मनुष्य के फेफडे तो सम्भवत. इतनी जल्दी प्रभावित नही होते, किन्तु त्वचा, अस्थियां, लसीका पर्व, यकृत, प्लीहा और अन्य भीतरी अग प्रभावित हो जाते हैं तथा रोगियों में से अधिकांश की मृत्यु हो जाती है। वेनेजुएला, मैक्सिको, दक्षिण-अफ्रीका, रोडेशिया, तंजानिया और साइप्रस की गुफाओं में घुसने वाले लोगो की मृत्यु इसी रोग के कारण हुई और इन देशों मे आज भी 'गुफा रोग' का नाम सुनकर लोग सिहर उठते हैं। इस फंगस के विषाणु कबूतरों, मुर्गियों और चमगादरों की विष्ठा में बहुत अधिक पाये जाते हैं और सभ्य समाज के लिए आज भी भयंकर खतरा बने हुए है। यह फंगस मल मे ही नही अपितु सर्क्रमित पक्षी की त्वचा के जख्मों और थूक में भी विद्यमान रहती हैं और मल में तो वहुत दिनों तक फलती-फूलती हैं। मनुष्य मे यह श्वास के साथ शरीर में प्रवेश कर जाती है।

फेफड़ों में पहुंचकर यह फगस अनेक छोटे धब्बों के रूप में परिवर्तित हो जाती है। भाग्य अच्छा हो तो जख्म ठीक हो जाते हैं अन्यथा रोग उत्तरोत्तर बढ़ने वाले राजरोग के रूप में परिवर्तित हो जाता है। फेफड़ों में गुलाव उत्पन्न हो जाता है और अंत में मृत्यु हो जाती है। ऐसे ही लक्षण जिगर के बारीक पर्दों और गुर्दों में भी उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी फगस गुह्य मार्ग से प्रवेश करती हैं और ओष्ठ, जिह्वा, पसली और आंत पथ में अवसर जख्म बन जाते हैं।

पक्षियों से मनुष्य को लगने वाले रोगों की संख्या कम नहीं है किन्तु पक्षी पालने का शौक कहां तक अपनाया जाता है इसका निर्णय तो पक्षी पालने वाले स्वयं ही अच्छी तरह कर सकते हैं फिर भी ऐसा लगता है कि पक्षियों के सुहावने पंख, संगीत मिश्रित स्वर और मन को लुभाने वाली आदतें सदा से मनुष्य को आकर्षित करती रही हैं और आगे भी करती रहेंगी। रोग और मृत्यु का नाम इतना भयावना है कि इसका नाम तक लेना हम पाप समझते हैं और जान बूझकर अपने चारों ओर भ्रम का किला बनाए रखते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम इनका वास्तविक रूप पहचानें और आंखों देखते मक्खी न निगलें। पक्षियों के आकर्षण से बचना संभव न हो तो भी चिकित्सक से उनकी समय-समय पर जांच करायें, अन्यथा करील का पेड़ बोने से तो सभी को कांटे लगते हैं, किन्तु यहां स्थिति भिन्न है और आम बोने से भी कांटे ही मिलेंगे और वह भी बहुत अधिक विषैले।

14

मच्छर, मलेरिया और फाइलेरिया

मच्छरों से मलेरिया, फाइलेरिया, पीत-ज्वर, डेंगू, मस्तिष्कशोथ और अन्य अनेक रोग होते हैं। मलेरिया के सम्बन्ध में चीनियों का विश्वास था कि यह रोग होने की प्रक्रिया में तीन पिशाच आक्रमण करते हैं। पहला हथौड़ा बजाता है और सारा शरीर टूटने लगता है। दूसरा आग बरसाता है, जिससे तेज ज्वर चढ़ जाता है और तीसरा ऊपर से एक घड़ा पानी डाल देता है और ज्वर उतर जाता है। योरोप के लोग तो बहुत बाद तक इसे बुरी हवा से उत्पन्न होने वाला रोग समझते रहे, किंतु हमारे देश में चरक बहुत पहले तीनों प्रकार के ज्वरों का वर्गीकरण कर चुके थे। बाद में रोग के कारण कार्य का संबंध भी भारत में ही स्थापित हुआ। सर रोनाल्ड रॉस नामक वैज्ञानिक को अपने इस अनुसंधान के लिए 1897 और 98 में दो बार नोबल पुरस्कार मिला।

मनुष्यों में प्लाज्मोडिया वंश की मुख्यतः तीन जातियों से मलेरिया होता है और इन्हीं के अनुसार ज्वर रोजाना, तीसरे दिन या चौथे दिन चढ़ता है। रक्त की जांच से रोग का पता चल जाता है, किंतु यह काम बहुत सरल नहीं है। रोगाणु लाल रक्त-कोशिकाओं को आक्रांत करते हैं, किन्तु रोग तभी प्रकट होता है, जब प्रति एक लाख लोहित कोशिकाओं में से कम से कम एक कोशिका में परजीवी पहुंच जाए अर्थात् एक घन सेंटीमीटर रक्त में 50 परजीवी विद्यमान हों। इसका अर्थ यह हुआ कि रोग के प्रकोप के समय 64 किलो ग्राम भार वाले एक मनुष्य में कम-से-कम 15 करोड़ परजीवी होते हैं। मनुष्य के रक्त में लोहित कोशिकाओं की

फेफड़ों में पहुंचकर यह फंगस अनेक छोटे धब्बों के रूप में परिवर्तित हो जाती है। भाग्य अच्छा हो तो जख्म ठीक हो जाते हैं अन्यथा रोग उत्तरोत्तर बढ़ने वाले राजरोग के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। ऊतकों में गुलाव उत्पन्न हो जाता है और अंत मे मृत्यु हो जाती है। ऐसे ही लक्षण जिगर के बारीक पर्दों और गुर्दों में भी उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी फंगस युद्ध मार्ग से प्रवेश करती है और ओष्ठ, जिह्वा, ग्रसनी और आंत्र पथ मे अक्सर जख्म बन जाते है।

पक्षियों से मनुष्य को लगने वाले रोगों की संख्या कम नही है किन्तु पक्षी पालने का शौक कहां तक अपनाया जाता है इसका निर्णय तो पक्षी पालने वाले स्वयं ही अच्छी तरह कर सकते हैं फिर भी ऐसा लगता है कि पक्षियों के सुहावने पंख, संगीत मिश्रित स्वर और मन को लुभाने वाली आदतें सदा से मनुष्य को आकर्षित करती रही हैं और आगे भी करती रहेंगी। रोग और मृत्यु का नाम इतना भयावना है कि इनका नाम तक लेना हम पाप समझते हैं और जान बूझकर अपने चारों ओर भ्रम का किला बनाए रखते है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इनका वास्तविक रूप पहचानें और आंखों देखते मक्खी न निगलें। पक्षियों के आकर्षण से बचना सम्भव न हो तो भी चिकित्सक से उनकी समय-समय पर जांच करायें, अन्यथा करील का पेड़ बोने से तो सभी को कांटे लगते हैं, किन्तु यहां स्थिति भिन्न है और आम बोने से भी कांटे ही मिलेंगे और वह भी बहुत अधिक विषैले।

14

मच्छर, मलेरिया और फाइलेरिया

मच्छरों से मलेरिया, फाइलेरिया, पीत-ज्वर, डेंगू, मस्तिष्क शोथ और अन्य अनेक रोग होते हैं। मलेरिया के सम्बन्ध में चीनियों का विश्वास था कि यह रोग होने की प्रक्रिया मे तीन पिशाच आक्रमण करते हैं। पहला हथौड़ा बजाता है और सारा शरीर टूटने लगता है। दूसरा आग बरसाता है, जिससे तेज ज्वर चढ़ जाता है और तीसरा ऊपर से एक घड़ा पानी डाल देता है और ज्वर उतर जाता है। योरोप के लोग तो बहुत बाद तक इसे बुरी हवा से उत्पन्न होने वाला रोग समझते रहे, किंतु हमारे देश में चरक बहुत पहले तीनों प्रकार के ज्वरों का वर्गीकरण कर चुके थे। बाद मे रोग के कारण कार्य का संबंध भी भारत में ही स्थापित हुआ। सर रोनाल्ड रॉस नामक वैज्ञानिक को अपने इस अनुसंधान के लिए 1897 और 98 में दो बार नोबल पुरस्कार मिला।

मनुष्यों में प्लाज्मोडिया वंश की मुख्यत: तीन जातियो से मलेरिया होता है और इन्ही के अनुसार ज्वर रोजाना, तीसरे दिन या चौथे दिन चढ़ता है। रक्त की जांच से रोग का पता चल जाता है, किंतु यह काम बहुत सरल नही है। रोगाणु लाल रक्त-कोशिकाओं को आक्रांत करते हैं, किन्तु रोग तभी प्र कट होता है, जब प्रति एक लाख लोहित कोशिकाओं में से कम से कम एक कोशिका मे परजीवी पहुंच जाएं अर्थात् एक घन सेंटी-मीटर रक्त में 50 परजीवी विद्यमान हों। इसका अर्थ यह हुआ कि रोग के प्रकोप के समय 64 किलो ग्राम भार वाले एक मनुष्य में कम-से-कम 15 करोड़ परजीवी होते हैं। मनुष्य के रक्त मे लोहित कोशिकाओं की

संख्या इतनी अधिक होती है कि 15 करोड़ परजीवी संख्या के आधार पर विशेष महत्व नही रखते तथा रक्त-परीक्षण मे तनिक-सी लापरवाही से ही जांच के परिणाम गडबडा जाते हैं। यही कारण है कि भारत मे मलेरिया उन्मूलन पर इतना अधिक खर्च करने के बाद भी रोग अब तक प्रकट होता रहता है। यही नही अपितु आज हमारे देश मे मलेरिया से पीड़ित रोगियों की संख्या सम्पूर्ण विश्व में पीडित लोगों से अधिक है।

एनॉफ्लीज जाति की एक मादा अपने जीवन-काल में लगभग 1000 तक अंडे दे देती है। ये अंडे पानी में तैरते रहते हैं। अंडे से लगभग 2 दिन में लार्वा निकल आते हैं तथा कुल मिलाकर लगभग तीन सप्ताह मे मच्छर बनकर रक्त चूसना शुरू कर देते हैं। रक्त चूसते समय यदि मनुष्य के रक्त में मलेरिया परजीवी विद्यमान हों तो रक्त के साथ ही मच्छर के शरीर में चले जाते हैं। एनॉफ्लीज मच्छरो की लगभग 400 जातियों मे केवल 85 जातियों के शरीर में रोगाणुओं का विकास होता है और वह भी केवल मादाओं के शरीर में। लगभग दो सप्ताह में मच्छर के शरीर मे परजीवी का लैंगिक चक्र पूरा हो जाता है। अब परजीवी मच्छर की लार ग्रंथि में पहुंच जाते हैं और अगली बार जब मच्छर मनुष्य को काटता है, तो लार के साथ ये रक्त में प्रवेश कर चुके होते हैं और लगभग आधे घंटे मे ही यकृत (कलेजा) और प्लीहा (तिल्ली) जैसे सुरक्षित स्थानों मे पहुंच जाते हैं। रोग की रोकथाम के लिए खायी जाने वाली साधारण औषधियां इन पर असर नही कर पाती। परजीवी निश्चिंत होकर अपनी संख्या बढाते रहते हैं और यदि सब कुछ इनके अनुकूल रहे तो लगभग 14 दिन मे रोगी पर तीनों चीनी पिशाच आक्रमण कर रहे होते हैं।

मस्तिष्क शोथ और कई अन्य रोग भी मच्छरो की कृपा से फैलते हैं। फाइलेरिया रोग भी मच्छरों के कारण होता है। मनुष्य के शरीर में क्यूलेक्स जाति का मच्छर इस रोग के रोगाणु पहुंचा देता है। यह रोग मध्य अफ्रीका, दक्षिण-पूर्व चीन, भारत और अनेक पूर्वी देशों और विश्व के अन्य अनेक देशों में पाया जाता है। इस रोग के रोगाणु दिन के समय मनुष्य की

धमनियों और हृदय की कोशिकाओं में आराम किया करते हैं, किंतु मनुष्य के सोते ही उसके रक्त में सैर-सपाटे के लिए निकल पड़ते हैं। यही वह समय है, जब क्यूलेक्स मच्छर अपने गीत सुनाने के लिए आपके कान पर भिनभिनाते हैं और बीच-बीच में थकान उतारने के लिए रक्त चूसते रहते हैं। रोगी के रक्त के साथ रोगाणु भी मच्छर के पेट में चले जाते हैं। कुछ दिनों बाद मच्छर के काटने पर लार के साथ ये मनुष्य के शरीर में पुनः पहुंच सकते हैं।

रोग की तीव्र दशा में बहुधा कंपकंपी के बाद 101°-104° फारेनहाइट तक बुखार हो जाता है। न्यूनाधिक तीव्र विषाक्तता उत्पन्न हो जाती है तथा लसीका वाहिकाओं में सूजन आ जाती है। संक्रमण के कई मास बाद तक रोग का प्रकोप हो सकता है। फाइलेरिया का सबसे भयानक रूप फीलपांव है। इसमें वृषणकोश, स्तन या टांगें बहुत अधिक फूल जाती हैं। रोग का प्रकोप संक्रमण के अनेक वर्षों पश्चात् होता है।

भारत में पिछले कुछ वर्षों से फाइलेरिया की रोकथाम की योजना चल रही है, जिसमें अनेकानेक लोगों के रक्त की जांच की जाती है तथा समुचित उपचार की व्यवस्था की जाती है।

मलेरिया या फाइलेरिया आदि के कारण यदि रोगी की मृत्यु न भी हो तो भी वह इतना अधिक कमजोर हो जाता है कि उसमें स्वस्थ होने के काफी दिनों बाद तक भी काम करने की शक्ति उत्पन्न नहीं हो पाती है। अतः इन रोगों से बचने के लिए मच्छरों को नष्ट करना चाहिए।

15

जूं से ज्वर न लीजिए

सुबह की सुनहरी धूप में दीवार से कमर लगाकर जूं का शिकार करने वाले कई लोगों को आपने देखा होगा। कमीज की सीवन, धोती की शिकन या लहंगे की गूंथन मे बने मोर्चों में छिपे ये घुसपैठिए मौका पड़ने पर मनुष्य का खून ही नही चूसते अपितु अनेक घातक रोग भी फैलाते हैं।

जू से फैलने वाला टाइफस ज्वर महामारी के रूप मे फैलता है और इससे मौत बहुत अधिक होती है। यह रोग यद्यपि जूं के कारण कई लोगों को हो सकता है, किंतु गरीबी और भीड़-भाड़ वाले घरों में तथा अकाल पीड़ितों आदि मे और भी अधिक तेजी से फैलता है। समाज मे पिछड़े लोगों में, जहां शरीर साफ करने के लिए साबुन तक उपलब्ध नही अथवा पेट की आग बुझाने के लिए काम करते समय स्नान तक करने का समय नही, वहां जूं की आबादी बहुत अधिक बढ जाए तो विस्मय ही क्या है। कपड़े बदलने से, रोगी के बिस्तर पर बैठने से या उसके सम्पर्क मे आने से, जूं बडी आसानी से दूसरे लोगों मे पहुंच जाती है। फिर कपडे गदे रखने से या स्नान आदि न करने से या सिर के बाल न धोने से तो जूं की संख्या यों भी बहुत बढ जाती है। एक बार एक साहब की कमीज में 10.428 जू और 10.253 जू के अडे पाए गए। जू जब मनुष्य का रक्त चूसती है तो टाइफस ज्वर का रिकेट्सिया ऐसे मनुष्य के शरीर मे चला जाता है। यह रोग मुख्यतया शरद और बसत ऋतु में फैलता है। लगभग दो सप्ताह तक तेज बुखार आता है। कमर में दर्द, सिर मे तेज दर्द, सांस लेने में

कठिनाई और मानसिक विकार हो जाता है। चेहरे पर तनाव आ जाता है। पाचवें-छठे दिन सीने और आमाशय पर लाल रंग के चकत्ते पड़ जाते हैं जो बाद में समूचे शरीर पर फैल जाते हैं। 15-75 प्रतिशत तक रोगियों की मृत्यु हो जाती है। सोवियत रूस में नवम्बर 1941 में इस रोग के कारण 2,500,000-3,000,000 लोग चल बसे। 1942 में मिश्र में 3000 और उत्तरी अफ्रीका मे 8000 लोग इस रोग से पीड़ित थे। सितम्बर 1943 में जब विदेशी फौजें 10 लाख की आबादी वाले शहर नेपिल्स मे घुसी तो मरणासन्न और मृत मनुष्य बराबर-बराबर पड़े थे तथा उनके शरीर पर बेशुमार जूं रेंग रही थीं। इस महामारी में लगभग 81 प्रतिशत लोग जान से हाथ धो बैठे। इस रोग के रिकेट्सिया का पता लगाने वाला वैज्ञानिक रिकेट्स स्वयं इस रोग से मरा।

1907 में मैकी ने भारत में अपने अनुसंधानों के आधार पर इस बात की पुष्टि की थी कि बार-बार आने वाला अर्थात पुनरावर्ती ज्वर जू के ही कारण होता है। रोग के कीटाणु (स्पाइरोकीट) जूं की आहार नली में रहते हैं। रक्त चूसने से पहले जू अपनी आहार नली से एक प्रकार का रस चमड़ी पर डाल देती है, ताकि चूसते समय रक्त जम न जाए। इस रस में रोग के स्पाइरोकीट विद्यमान रहते हैं। नाखूनों से जूं मारते समय स्पाइरोकीट जूं से निकलकर नाखूनों के भीतर चले जाते हैं और शरीर खुजाते समय चमड़ी के रास्ते शरीर में प्रवेश कर जाते है। रोग अचानक शुरू होता है। सिर दर्द, कंपकंपी और ज्वर हो जाता है। शरीर में दर्द होता है। 4-6 दिन तक बुखार रहता है। 4-8 दिन शांत रहने के बाद बुखार दुबारा हो जाता है।

टाइफस रोग से बचाव के लिए वैक्सीन उपलब्ध है और जूं यदि काफी संख्या मे हों तो भी रोग लगने का डर नहीं रहता, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई जानबूझकर गंदा रहना प्रारम्भ कर दे और इस घिनौने प्राणी को अपने शरीर पर आश्रय देता रहे। डी० डी० टी० से जू बड़ी आसानी से नष्ट की जा सकती हैं। इसके लिए शरीर के कपड़ो

पर तीन सप्ताह बाद डी० डी० टी० छिड़कते रहना चाहिए। बालों को और कपड़े की सीवनों से जू और इसके अंडों को नष्ट करना बहुत जरूरी है। किंतु डी० डी० टी० छिड़कने का काम बहुत सावधानीपूर्वक और समझदारी के साथ किया जाना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि जू और रोगी साथ-साथ चल बसें।

टाइफस या पुनरावर्ती ज्वर आदि के कारण यदि रोगी की मृत्यु न भी हो तो भी वह इतना अधिक कमजोर हो जाता है कि उसमें स्वस्थ होने के काफी दिनों बाद तक भी काम करने की शक्ति उत्पन्न नहीं हो पाती है। स्वास्थ्य तो खराब होता ही है, साथ ही आर्थिक कठिनाइयां भी उत्पन्न हो जाती है। जो हाथ अपना और अपने आश्रितों के पेट पालने मे सहायता करते हो, यदि वे ही रोग की हालत मे चारपाई पर पड़े मक्खी मारा करें तो दवा तक के पैसे जुटाना कठिन हो जाता है। गरीबी और भुखमरी और भी तेजी से बढ़ती है। दुर्बल को रोग वैसे भी कुछ अधिक परेशान करते हैं। इसलिए दशा दिन-पर-दिन गिरती ही जाती है। इसलिए यह जरूरी है कि स्वास्थ्य के इन दुश्मनों से पूरी तरह बचाव करें और ऐसी स्थिति न उत्पन्न होने दें कि गंदगी बढ़ने के साथ-साथ रोग की चपेट में आ जाएं।

16

सभ्यता के माथे का कलंक ! पागलपन

आज मनुष्य अपने मस्तिष्क के बल पर चांद तक पहुंच गया है और संसार की अन्य सभी शक्तियों को भी उसने अपने काबू मे कर लिया है किंतु आज भी पागल कुत्ते के काटने से अनेक लोग पागल होकर मरते है। पागल होकर मरना निश्चय ही मानवता के माथे पर कलंक है। बाहर ही नही अपितु हमारे अपने देश मे भी प्रतिवर्ष इस रोग के कारण हजारो लोग अपने प्राणो से हाथ धो बैठते हैं।

पागल पशु के काटने से उत्पन्न होने वाला रोग पागलपन या रेबीज कहलाता है। रोगी पानी से डरने लगता है, इसलिए इसे हाइड्रोफोबिया भी कहते है। यह छूत से फैलने वाला एक भयानक रोग है तथा मस्तिष्क और सुषुम्ना को प्रभावित कर देता है। एक बार यदि इस रोग के लक्षण प्रकट हो जाएं तो रोगी की मृत्यु निश्चित है तथा किसी भी प्रकार के इलाज मे कोई लाभ नही होता। इसलिए यह और भी जरूरी है कि रोग की रोकथाम के लिए शुरू से ही पूरा इंतजाम कर लिया जाए। कुत्ते को यदि एक बार रोग हो गया तो वह पागलपन मे दूसरे कुत्तो को काटता है तथा बाद मे सभी कुत्ते पागल हो सकते हैं। इसी बीच यदि उसने किसी मनुष्य को भी काट लिया और रोग की रोकथाम के टीके न लगवाए गए तो कुत्ते ही की मौत मरना पड़ सकता है।

रोग कैसे होता है ?

पागल कुत्ते की लार मे इस रोग के विषाणु मौजूद रहते है। इसके

काटने से अन्य पशु भी पागल हो सकते हैं। कुत्ता कभी-कभी गाय-भैंस को भी काट लेता है। काटते समय लार के साथ रोग के विषाणु जख्म के रास्ते शरीर में चले जाते हैं। शरीर की किसी खरोंच या जख्म पर पागल कुत्ते की लार गिर जाए तो भी विषाणु शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। पागल कुत्ते के काटने से मनुष्य ही नहीं अपितु बिल्ली, गाय, भैंस, लोमड़ी, गीदड़, भेड़िए तथा अन्य पालतू एवं जंगली पशुओं को भी रोग की छूत लग सकती है।

यह रोग विश्व के सभी देशों में पाया जाता है तथा किसी भी मौसम में हो सकता है। फिर भी रोग बहुधा ऐसे मौसम में होता है जब कुतिया 'गरभ' होती हैं तथा कुत्ते आपस में लड़कर एक-दूसरे को काट लेते हैं। ऐसे समय में रोग बड़ी तेजी से फैलता है। भोजन की तलाश में कुत्ते कभी-कभी गाँव छोड़कर दूर तक चले जाते हैं तथा पागल कुत्तों के सम्पर्क में आ जाते हैं। इस तरह भी रोग फैलने में सहायता मिलती है।

रोग कितने दिन में हो जाता है ?

काटते समय पागल कुत्ते की लार जख्म पर लग जाती है। लार में विषाणु मौजूद रहते हैं जो रक्त में चले जाते हैं और अपनी संख्या बढ़ाते रहते हैं। काटने के लगभग 14 दिन बाद रोगी को पागलपन का दौरा पड़ जाता है। कभी-कभी यह अवधि एक वर्ष तक हो सकती है। फिर भी रोग का आक्रमण औसतन लगभग 50-60 दिन में होता है। समय की विभिन्नता का मूल कारण यह है कि कुत्ते के काटे सभी घाव बराबर हानिकारक नहीं होते तथा काटते समय शरीर में जाने वाले विषाणुओं की कम या ज्यादा मात्रा से भी रोग उत्पन्न होने की अवधि घट-बढ़ सकती है। सिर, गर्दन, हाथ और शरीर के अन्य खुले भागों के घाव ज्यादा खतरनाक होते हैं। गहरे घाव लगने से या कुत्ते के कई दाँत एक ही स्थान पर लगने से रोग और भी तेजी से और जल्दी आक्रमण करता है।

रोग की पहचान

यह दो प्रकार का होता है : उग्र रोग और मूक रोग ।

उग्र रोग : रोगी कुत्ते के व्यवहार में परिवर्तन होने लगता है । जंगली और पालतू पशु मनुष्य से डरते हैं किंतु रोग की दशा में उनका डरना कम हो जाता है। पालतू पशु विशेषतः कुत्तों में मनुष्य के प्रति आकर्षण कम हो जाता है तथा कुत्ता अकेले रहना पसन्द करता है । एक-दो दिन के बाद रोगी की बेचैनी बढ़ने लगती है, रोगी एक क्षण के लिए लेट जाता है फिर अचानक खड़ा हो जाता है, दूसरी जगह जाता है फिर लेट जाता है और इसी तरह बेचैनी की हालत में घूमता रहता है । यदि ऐसा करने से रोका जाए तो रोगी की मानसिक स्थिति और भी बिगड़ती है । यह किसी भी पशु या मनुष्य पर अचानक और बिना छेड़े ही आक्रमण कर देता है । रोग की तीव्र दशा में कुत्ता जोर-जोर से भौंकता और बिना कुछ वस्तु देखे ही गुर्राता है। पहले वह जिन पशुओं के साथ बड़े प्रेम से रहता था, उनका भी पीछा करने लगता है और काट लेता है। ऐसी दशा में कुत्ता अपने मालिकों को भी नही पहचानता तथा इस समय उसे छेड़ना या डांटना खतरनाक हो सकता है । कुत्ते की मानसिक दशा ठीक नही होती तथा काट ले तो भयानक परिणाम हो सकते हैं । कुत्ता खुल जाए तो दूर तक भागा चला जाता है और रास्ते मे जो कोई भी मिलता है उसी पर भौंकता है तथा मौका लगते ही काट लेता है । बाद में वह थककर गिर पड़ता है और लकवे के कारण उसके शरीर की मांस पेशियां बेकार हो जाती है । अंत में उसकी मृत्यु हो जाती है । बिल्ली, घोड़े, गाय-भैंस आदि को यह रोग हो तो लगभग ऐसे ही लक्षण प्रकट होते हैं ।

मूक रोग : मूक पागलपन की पहचान बहुत कठिन है । रोगी मे उत्तेजना के लक्षण नहीं मिलते और यदि हों भी तो इतने कम होते हैं कि रोग का संदेह नही हो पाता । रोग बड़ी तेजी से बढ़ता है और लगभग 2-3 दिन में रोगी की मृत्यु हो जाती है । सबसे पहले निचले जबड़े पर लकवे

का असर होता है और दूर से ऐसा दिखाई पड़ता है मानो पशु के मुंह में कुछ अटक गया हो। स्नेह के कारण मनुष्य रोगी के गले में हाथ डाल देता है और रोगी के गले की वस्तु को निकालने का प्रयत्न करता है। इस बीच हाथ पर कोई जख्म या खरोंच हो अथवा रोगी के दांत लग जाएं और जख्म बन जाए तो रोग के विषाणु शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। मूक रोग ऐसे पशुओं को भी हो सकता है जिन्हें उग्र रोग होता है किंतु गाय-भैंस और घोड़ों आदि का मूक रोग अधिक भयानक होता है क्योंकि इन पशुओं से मनुष्य का समीप का सम्पर्क है और उनके गले में यदि कोई चीज अटक जाए तो पशु पालक सहन नहीं कर सकते और प्रेमवश उनके गले में हाथ डाल देते हैं। रोग का संदेह किए बिना ही यदि पशु की मृत्यु हो गई तो मनुष्य के लिए उसके परिणाम कहीं अधिक भयंकर होंगे।

मनुष्यों में पागलपन रोग

रोग के आक्रमण के पहले जख्म में कोई परिवर्तन नहीं होता किंतु केंद्रीय तंत्रिका तंत्र प्रभावित हो जाता है, रोगी में आशंका उत्पन्न हो जाती है और वह खिन्न रहने लगता है। सिर दर्द होता है। अति सुग्राह्यता एवं उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है। भोजन निगलने में कठिनाई होती है। बाद में मांस-पेशियों में ऐंठन उत्पन्न हो जाती है। रोगी को लकवा हो जाता है और मृत्यु हो जाती है। एक बार यदि रोग के लक्षण प्रकट हो जाए तो उसका कोई इलाज नहीं है तथा रोगी की मृत्यु निश्चित है।

रोग से बचने के क्या उपाय हैं?

यदि कुछ मामूली-सी बातों का ध्यान रखा जाए तो मनुष्य कुत्ते की मौत मरने से बच सकता है तथा अपने कुत्ते तथा अन्य पालतू पशुओं की भी रक्षा कर सकता है। आधुनिक विज्ञान ने ऐसे टीके निकाले हैं कि काटते ही यदि ये टीके लगवा लिए जाएं तो रोग के प्रकोप की आशंका नहीं रहती।

1. अपने कुत्ते को प्रति वर्ष रेबीज रोग का टीका लगवाइए। पहला टीका तीन मास के पिल्ले को ही लगवा देना चाहिए और फिर प्रति-वर्ष लगवाना चाहिए।
2. यदि पड़ोस में किसी कुत्ते को रेबीज हो गया हो या आस-पास के गांव के कुत्तों में रोग फैल गया हो तो अपने कुत्ते को घर पर बांध दीजिए।
3. यदि कुत्ते ने काट लिया है तो जख्म को शीघ्र ही साबुन से खूब साफ धो दीजिए और तुरंत डाक्टर की सलाह लीजिए। यदि संभव हो तो कुत्ते को पकड़कर बांध लीजिए तथा उसे 10 दिन तक किसी पशु-चिकित्सक की देख-रेख में रखिए।
4. यदि आपके गांव में या आस-पास के गांवों में कुत्तों का उत्पात बहुत बढ़ गया हो तो पास के पशु चिकित्सक या स्वास्थ्य अधिकारी को सूचित कीजिए, ताकि वे इसकी रोकथाम के लिए उपयुक्त उपाय कर सकें।

17

बिन पानी सब सून

पुरानी कहावत है कि मनुष्य का शरीर पांच सेर मिट्टी और आठ बाल्टी पानी से बना है। स्थूल आंकड़ों के आधार पर वैज्ञानिक भले ही नाक-भौं सिकोड़ें किंतु इससे पानी का महत्त्व तो स्पष्ट हो ही जाता है। मनुष्य के शरीर मे 50 से 95 प्रतिशत तक पानी हो सकता है। गर्भकाल मे यह मात्रा सबसे अधिक होती है और वृद्धावस्था तक पहुंचते-पहुंचते धीरे-धीरे घटकर लगभग 50-60 प्रतिशत रह जाती है। जन्म के समय बच्चे के शरीर में 75-80 प्रतिशत पानी होता है किंतु 5-6 मास की आयु मे शिशु के शरीर का पानी घटकर 70 प्रतिशत तक रह जाता है। शरीर के विभिन्न अवयवों में पानी की मात्रा भिन्न होती है। रक्त प्लाज्मा में 90-92% तक पानी हो सकता है और मांस-पेशियों मे 72-78 प्रतिशत तक। शरीर के ठोस भागों जैसे हड्डी या दांतों में भी पर्याप्त पानी रहता है। यह पानी 'मुक्त जल' या बद्ध जल के रूप मे हो सकता है।

शरीर में पानी कहां से आता है?

मनुष्य के शरीर को पानी तीन स्रोतों से प्राप्त होता है—

1. पानी आहार का महत्त्वपूर्ण भाग है और आहार के साथ पर्याप्त पानी भी शरीर में चला जाता है। हरी सब्जियों में 70-90 प्रतिशत तक पानी हो सकता है। पानी की मात्रा के आधार पर ही आहार तीन वर्गों मे रखा जाता है—रसीला, कम-रसीला और सूखा। सूखे आहार मे भी 10 प्रतिशत तक पानी होता है।

2. हवा और पानी के बिना जीव-धारियो का जीवन संभव नहीं है। सम्भवत: इसीलिए प्रकृति ने ये दो वरदान मुफ्त में ही प्रत्येक प्राणी को दिए हैं। भोजन के बिना व्यक्ति कई दिनो तक जीवित रह सकता है किंतु पानी की मात्रा मे दस प्रतिशत की कमी होने से ही अनेक समस्याएं पैदा हो जाती हैं और 20 प्रतिशत की कमी हो जाने पर तो प्राणी की मृत्यु तक हो जाती है। इसीलिए प्रत्येक प्राणी को प्रतिदिन पानी की जरूरत पड़ती है।

3. प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट्स और चिकनाई में हाइड्रोजन होती है जिसके आक्सीकरण से पानी बनता है।

पानी की क्या उपयोगिता है ?

1. पानी रक्त को पतला करने मे सहायक होता है। इससे समूचे शरीर का तापमान एक समान बना रहता है और आंतो मे पचे हुए पोषक तत्व शरीर के विभिन्न भागों में पहुंचते रहते हैं।

2. प्राणी के शरीर में बनने वाले दूध को पानी पतला करता है। दूध में लगभग 80 प्रतिशत पानी होता है। इसी कारण दुधारू पशुओं को पानी की अधिक आवश्यकता पड़ती है। यदि दुधारू पशुओं को आवश्यकतानुसार पानी न पिलाया जाए तो उनके दूध उत्पादन पर इसका बुरा प्रभाव पड सकता है और दूध की मात्रा मे कमी हो जाती है।

3. पानी आहार के पोषक तत्वों को आंतों मे पतला करता है। इस तरह ये आसानी से पच जाते हैं। आहार को पचाने मे सहायता करने के लिए जठर रस, अग्न्याशय रस, आदि अनेक पाचक रस आमाशय और आन्त्रों मे पहुंचते हैं। पानी इन रसों का एक आवश्यक अंग है। इसके सहारे ही ये उचित स्थान पर पहुंचकर विभिन्न क्रियाएं करते हैं।

4. पानी आहार को सरस और स्वादिष्ट बनाता है और प्राणी की प्यास बुझाता है। यह आहार को तरल, चिकना और मुलायम बनाता है और भोजन तत्वों को शरीर मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है।

पानी एक अच्छा घोलक है और इसका यह गुण इसके इस कार्य में सहायता करता है।

5. पानी शरीर के अवांछित पदार्थों को मल-मूत्र और पसीने आदि के माध्यम से शरीर के बाहर निकालने में सहायता देता है।

6. पानी शरीर में उपस्थित प्लाज्मा, सीरम और श्लेष्मक आदि द्रव पदार्थों को तरल रूप मे बनाए रखने में सहायता करता है। इस प्रकार शारीरिक कार्य सुचारु रूप से चलते रहते हैं।

7. प्रत्येक प्राणी के हृदय के चारों ओर हृदयावरण होता है जिसमें परिहृद् द्रव भरा रहता है। पानी इस द्रव का आवश्यक अंग है और हृदय को झटकों से बचाने में सहायता करता है।

8. पानी शरीर की कोशिकाओं का आवश्यक भाग है और इन्हें निश्चित आकार प्रदान करने में और उनके पोषण में सहायता करता है। यह ध्वनि ग्रहण में सहायता करता है।

9. शरीर के समस्त जैव रासायनिक और शरीर क्रियात्मक कार्य-कलाप पानी के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। शरीर के जोड़ों के बीच एक चिकना तैलीय द्रव भरा होता है जिससे हड्डियां आपस में रगड़ नहीं खाती। पानी इस द्रव का भी एक आवश्यक अंग है।

10. शरीर के अम्लीय और क्षारीय लवण पानी मे घुल जाते हैं और इस प्रकार पानी शरीर मे अम्ल-क्षार सन्तुलन बनाए रखने में सहायता करता है।

पानी साफ हो

पानी की उपयोगिता जान लेने के पश्चात् यह स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है कि प्राणी को नियमित रूप से और आवश्यकतानुसार पानी पीते रहना चाहिए। पानी पीने मे लापरवाही करने से प्राणी के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। गाय, भैंस आदि का दुग्ध उत्पादन भी कम हो जाता है। किन्तु साथ ही यह ध्यान रखना आवश्यक है कि पीने के काम

आने वाला पानी साफ हो। पानी में गंदगी बड़ी आसानी घुल जाती है और दूषित पानी पीने से लोगों को विभिन्न प्रकार के रोग लग सकते है।

कई बार पीने का पानी तालाबों में इकट्ठा कर लिया जाता है। इन तालाबों के समीप ही गंदगी के ढेर गोबर कूड़ा इत्यादि इकट्ठे रहते है। इन तालाबों में पशु भी पानी पीते हैं और तालाब में ही मल-मूत्र भी त्याग देते हैं। यही नहीं अपितु पशुओं के मुँह की लार गिर कर तालाब के पानी में मिल जाती है। इन पानी पीने वाले पशुओं में से कई पशु रोगी हो सकते हैं। इस तरह यह पानी यक्ष्मा (तपेदिक), अतिसार, संसर्गी गर्भपात, एन्टोजोआ और अन्य रोगों का एक स्थायी स्रोत बन जाता है और स्वस्थ लोग भी बीमार पड़ जाते हैं। अपने स्वास्थ्य की देखभाल में आप कितनी ही सावधानी बरतें किंतु यदि पिलाए जाने वाले पानी की व्यवस्था ठीक नहीं है तो रोगी होने का खतरा बना रहता है।

तालाबों इत्यादि के खुले पानी में रोग उत्पन्न करने वाले अनेक जीवाणु हो सकते हैं तथा परजीवियों के अंडे और लार्वा भी विद्यमान रहते हैं। साथ ही ऐसा पानी विषैले पदार्थों से भी दूषित हो सकता है। यह पानी सड़न और बदबूदार भी हो सकता है। अनेक वनस्पतियां, फफूंदियां, सैवाल और काई आदि भी इस पानी में हो सकती हैं। यह इस बात का सबूत है कि पानी बाहरी पदार्थों से दूषित हो चुका है तथा इसका पीना खतरनाक सिद्ध होगा।

कितना पानी चाहिए ?

पानी की मात्रा प्राणी के शरीर, उनके कार्य, आहार की किस्म और मौसम पर निर्भर करती है। हरी सब्जियां खाने वाले व्यक्तियों को निश्चय ही कम पानी की आवश्यकता होती है। दूध पिलाने वाली माताओं को जितना दूध वे पिलाती हैं उसका लगभग चार-पांच गुना पानी प्रतिदिन पीना चाहिए। औसत आदमी को प्रतिदिन 4-5 लीटर पानी पीना चाहिए।

18

कहीं अमृत में विष न मिला हो

दूध प्रोटीन, चिकनाई और अन्य अनेक पोषक पदार्थों का उत्तम स्रोत है वास्तव में दूध से हमे स्वस्थ बनाए रखने वाले लगभग सभी पोषक तत्त्व मिल जाते हैं और इस तरह दूध भगवान की एक अनुपम देन है। किंतु इस बात से बहुत कम लोग परिचित हैं कि दूध निकालते समय या उसके रख-रखाव में सावधानी न बरती जाए तो यह लाभदायक कम और हानिकर अधिक हो सकता है। दूध मे बहुत अधिक जल और खनिज पदार्थ होते हैं। इसलिए मनुष्यों मे रोग उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म जीव दूध में बहुत तेजी से पनपते हैं।

दूध खराब क्यों होता है ?

दूध खराब होने के कई कारण हो सकते हैं। रोगी पशु का निकला दूध, दूध निकालने के गन्दे बर्तन, दूध भरने, या दूध ले जाने के काम आने वाले गन्दे बर्तन आदि-आदि। यही नहीं अपितु गाय भैस के थन से निकला दूध, मनुष्यों के पीने तक बीच में किसी भी समय गंदे हाथों से छू जाय तो रोग उत्पन्न करनेवाले सूक्ष्म जीव दूध मे पहुंच जाते हैं और अमृत के साथ-साथ विष भी शरीर में प्रवेश कर जाता है।

दूध से कौनसे रोग उत्पन्न होते हैं ?

मनुष्य मे दूध के माध्यम से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। पीते समय दूध जिस प्रकार के सूक्ष्म जीवों से प्रभावित होगा, मनुष्यों मे उसी

प्रकार का रोग उत्पन्न हो जायगा। जीवाणु, विषाणु, रिकेट्सिया, फफूदी, प्रोटोजोआ इस संबंध में रोग उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म जीव हैं। दूध के माध्यम से जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण रोग हैं : ब्रूसेलोसिस, मियादी बुखार, हैजा क्लास्ट्रीडियम वेलशाई-संक्रमण, बाटूलिज्म, लेप्टोस्पाइराख्णता, लिस्टेरियोसिस डिफ्थेरिया, एक प्रकार का जठर-आन्त्र शोथ, स्ट्रेप्टोकॉकस जीवाणु सक्रमण तथा साल्मोनेला रुग्णता विषाणु रोग हैं : यकृत-शोथ, पोलियो-रोग, कोक्सेकी-रोग तथा जू वाहित मस्तिष्क शोथ।

इसके अतिरिक्त चूंकि कुछ फफूंदियों के कारण यनैला रोग हो जाता है, इसकी ये फफूंदियां भी दूध निकालते समय दूध मे मिल सकती है। दुधारू पशुओं को यदि पाचन-विकार हो अथवा उन्हें जहरीले प्राणी काट लें तो भी दूध दूषित हो सकता है।

स्वच्छ दूध कैसे प्राप्त करें ?

उपर्युक्त तथ्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि दूध निकालने मे नियमित सावधानी की आवश्यकता है। दूध देने वाले पशु और दूध निकालने वाला मनुष्य दोनों ही स्वस्थ और साफ-सुथरे होने चाहिए। यक्ष्मा और ब्रूसेलोसिस आदि रोगों की पशुओं मे जांच कराते रहना चाहिए और रोग का सन्देह होते ही पशुओं का किसी योग्य पशु चिकित्सक से इलाज कराना चाहिए। दूध दुहने वाले मनुष्यों को स्वच्छता के महत्त्व का पूरा ज्ञान होना चाहिए और दूध निकालते समय उन्हें इस ज्ञान का समुचित उपयोग करना चाहिए। इस संबध में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना जरूरी है।

1. पशु-शालाएं उपयुक्त ढंग से बनाई जानी चाहिए। इनमे जल की समुचित व्यवस्था हो तथा पर्याप्त पानी उपलब्ध हो, ताकि इन्हें साफ रखा जा सके। इनमे प्रकाश और हवा के आने-जाने का अच्छा प्रबध होना चाहिए।

2. गोशाला की दीवारों तथा छत मे प्रति मास चूने से पुताई की

जानी चाहिए।

3. पशुओं का मल-मूत्र आदि रोजाना साफ करा देना चाहिए तथा पशुशाला को साफ-सुथरा और सूखा रखना चाहिए।

4. पशु रोग-मुक्त रहने चाहिए। रोगी पशुओं का तुरत इलाज करना चाहिए तथा रोग का संदेह होते ही उन्हें स्वस्थ पशुओं से अलग कर देना चाहिए। उनका दूध स्वस्थ पशुओं के दूध में नहीं मिलाना चाहिए। ऐसे पशुओ का दूध उबालकर बछड़ों आदि को पिला देना चाहिए। जहां तक हो सके रोगी पशुओं का दूध इस्तेमाल नही करना चाहिए।

5. पशुओं को रोजाना साफ करना जरूरी है। गर्मियों के मौसम में पशुओ को नहलाना और भी जरूरी हो जाता है। सर्दियो मे पशुओं की पिछली टांगें, अयन, पूछ, पुट्ठे आदि गुनगुने पानी से धोकर साफ कर देने चाहिए।

6. दूध निकालने, दूध छानने या दूध रखने के काम आने वाले बर्तनों को इस्तेमाल करने के पहले गर्म पानी और साबुन से धोकर सुखा लेना चाहिए।

7. दूध दुहने के काम आने वाले बर्तन धातु के बने होने चाहिए। अच्छा तो यह होगा कि ऐसे बर्तन स्टेनलैस-स्टील के बने हों तथा इनके किनारे आदि नुकीले न हो, ताकि इन्हें आसानी से साफ किया जा सके।

8. दूध निकालने, दूध छानने या दूध रखने के काम आने वाले बर्तनों को इस्तेमाल करने के पहले गर्म पानी और साबुन से धोकर सुखा लेना चाहिए।

9. दूध निकालने के पहले पशु के सामने सूखा चारा जैसे भूसा आदि नही डालना चाहिए। भूसे से उड़ी गर्द हवा में मिल जाती है तथा दूध निकालते समय दूध में भी पहुंच सकती है।

10. ताजा दूध मलमल के साफ सफेद कपड़े से छान लेना चाहिए। छानने के बाद कपड़े को साबुन और गर्म पानी से साफ धोकर सुखा देना

चाहिए। ऐसा न करने पर छनने कपड़े से दूध दूषित हो सकता है।

11. दूध दुहने वाला मनुष्य साफ और स्वस्थ होना चाहिए। दूध साफ कपड़े पहनकर निकालना चाहिए और दूसरे पशु का दूध निकालने के पहले दुबारा हाथ धोने जरूरी है। गीले हाथों से दूध नही निकालना चाहिए तथा दूध में अंगुलियां या हाथ नहीं डालना चाहिए।

12. दूध निकालने के पहले लाल दवा के घोल मे तौलिया भिगोकर, अयन पोंछकर सुखा लेना चाहिए।

13. प्रत्येक थन से पहली तीन-चार धारो का दूध एक अलग बर्तन मे इकट्ठा कर लेना चाहिए और दूर फेंक देना चाहिए। ऐसा करना बहुत जरूरी है, क्योकि दूध की पहली तीन-चार धारों में ऐसे अनेक जीवाणु होते हैं जो थनो के रास्ते दुग्ध वाहिनियो और दुग्ध नलिका मे प्रवेश कर जाते हैं। यदि दूषित दूध साफ दूध मे मिला दिया जाय तो सारा दूध खराब हो सकता है और पीने वाले लोगो के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड सकता है।

14. यह ध्यान रखना चाहिए कि पशुशाला मे मक्खियां, कीट, मच्छर और अन्य पीडक प्राणी उत्पन्न न होने पाएं। ये प्राणी पशुओं का खून चूसकर उनका स्वास्थ्य तो खराब करते ही हैं, साथ ही अन्य अनेक प्रकार के सूक्ष्म-जीव पशु के शरीर में पहुंचा देते है और इस प्रकार पशु ही नहीं उनका दूध पीने वालों के स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

15. पशु चिकित्सक को दिखाकर पशुओं की समय-समय पर जांच कराते रहना चाहिए।

16. दूध को उबाले बिना हरगिज नही पीना चाहिए।

19

सपरेटा—बनाम सस्ता पोषण

बहुधा यह समझ लिया जाता है कि क्रीम निकालने के बाद दूध में कुछ नहीं बचता। इस गलतफहमी का एक कारण यह है कि लोग क्रीम, घी या मक्खन को ही सबसे ज्यादा महत्त्व देते हैं और यह सोचते हैं कि दूध से जब मक्खन ही निकल गया तो बचा क्या? सपरेटा पसंद न करने का एक कारण यह भी हो सकता है कि इसमें दूध जैसा स्वाद या सुवास नहीं होती। फल यह होता है कि देश में प्रतिवर्ष उत्पन्न होने वाले लगभग 1,3380 लाख किलोग्राम सपरेटा का एक बड़ा भाग बेकार चला जाता है और देशवासी भ्रांति या अज्ञान के कारण इसका समुचित लाभ नहीं उठा पाते। यही हाल हमारे गांवों का है जहां मठा या छाछ घी निकल जाने के कारण सम्मान की वस्तु नहीं समझी जाती है।

यदि सपरेटे के पोषक गुणों पर ध्यान दिया जाए तो यह आसानी से स्पष्ट हो जाता है कि यह शुद्ध दूध से कम लाभदायक नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि इसमें कई गुण तो ऐसे हैं जो शुद्ध दूध में भी नहीं होते। डेरी उद्योग की उन्नति और सपरेटा के बढ़ते हुए उत्पादन को देखकर अब यह जरूरी हो गया है कि लोग इसके महत्त्व को समझें और अपने आहार में इसे वही सम्मान प्रदान करें जो शुद्ध दूध को दिया जाता है।

पोषक तत्त्व

सपरेटा वास्तव में शुद्ध दूध ही है अंतर केवल इतना है कि इसमें से दूध का एक भाग अलग कर दिया गया है। यह भले ही मशीन की मथनियों

से किया गया हो या साधारण मथानी से। मक्खन निकालने के तरीके के आधार पर सपरेटा मे मौजूद चिकनाई की मात्रा में परिवर्तन हो सकता है। नीचे की तालिका में शुद्ध दूध और सपरेटा के संघटकों की प्रतिशत मात्रा दर्शायी गयी है।

शुद्ध दूध और सपरेटा के महत्त्वपूर्ण संघटकों की तुलना अंतर्राष्ट्रीय खाद्य एव कृषि—

संगठन मोनोग्राफ-7

	जल %	प्रोटीन %	चिकनाई %	लेक्टोज %	भस्म %	कुल ठोस पदार्थ %
शुद्ध दूध—गाय	87.10	3.50	3.80	4.90	0 07	12.90
सपरेटा—गाय (मथानी से मथा हुआ)	90.25	3.58	0.75	4.66	0.76	9.75
सपरेटा—गाय (मशीन से मथा हुआ)	90.40	3.72	0.15	4.98	0.80	9.65

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि सपरेटा में चिकनाई के अतिरिक्त अन्य सभी महत्त्वपूर्ण पोषक पदार्थों की मात्रा लगभग उतनी ही है जितनी कि शुद्ध दूध में। यही नही अपितु ये पोषक पदार्थ दूध की अपेक्षा सस्ते दामों पर उपलब्ध हो जाते हैं और कम आमदनी वाला जन-समुदाय भी इनका आसानी से लाभ उठा सकता है।

चिकनाई ही सब कुछ नहीं है

दूध केवल इसलिए महत्त्वपूर्ण नही है कि इसमें चिकनाई होती है। इसमे ऐसे अन्य अनेक पोषक तत्त्व होते हैं जिनका महत्त्व चिकनाई से किसी भी हालत में कम नही है, जैसे लवण और विटामिन। इस आधार पर भी शुद्ध दूध और सपरेटे में विशेष अन्तर नही है। (तालिका-2)

शुद्ध दूध और सपरेटा के लवण एवं विटामिनों की तुलना अंतर्राष्ट्रीय खाद्य एवं कृषि—

संगठन मोनोग्राफ-7

घटक		शुद्ध दूध	सपरेटा
कैल्शियम	मि॰ ग्रा॰ 100 ग्राम	118	118
फास्फोरस	"	93	93
लोह	"	0.07	0.07
थायमिन	"	0.04	0.04
राइबोफ्लेविन	"	0.17	0.17
विटामिन सी	"	1.00	1.00
नियासीन	"	0.10	0.10
विटामिन ए	अंतर्राष्ट्रीय इकाइयां	160	नगण्य

उपयोगिता

(क) शुद्ध दूध आमतौर पर उबालकर पीने के काम आता है। सपरेटा भी इसी भांति उबालकर पिया जा सकता है। यह सच है कि शुद्ध दूध जैसी सुवास सपरेटे में नहीं होती किन्तु सुवास दूध का कोई आवश्यक गुण नहीं है और सपरेटा पीने की आदत बड़ी आसानी से पड़ सकती है। यही नहीं अपितु ऐसे लोगों के लिए तो सपरेटा दूध की अपेक्षा और भी अधिक उपयोगी होता है जिन्हें रोगादि या अन्य कारणों से चिकित्सक चिकनाई न खाने का परामर्श देते हैं। चालीस वर्ष के ऊपर तो चिकनाई रहित दूध पीना ही अधिक उपादेय होता है।

(ख) कभी-कभी बच्चे और स्वस्थ मनुष्य शुद्ध दूध पसन्द नहीं करते। इसलिए ऐसे लोगों के दूध को सुस्वादु बनाने के लिए ओवल्टीन आदि पदार्थ मिला दिये जाते हैं। इसी प्रकार सपरेटे में भी यदि ओवल्टीन, बोर्नविटा, काफी या चाकलेट आदि मिला दिये जाएं तो यह कहीं

अधिक स्वादिष्ट हो जाता है। लस्सी आदि बनाने के लिए या फलो आदि का रस मिलाकर पीने के लिए सपरेटा एक उत्तम पेय है।

(ग) दही—दूध की जगह दही इस्तेमाल करने से इसका महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। अपने विशेष स्वाद के कारण दही सभी को पसन्द है और चिकनाई का दही मे कोई महत्त्व नही है। यही नही दही की नैदानिक उपयोगिता भी है। यह मनुष्य को स्वस्थ बनाए रखने के लिए ही आवश्यक नही है अपितु उसे चिरायु भी प्रदान करता है। दही खाने से लैक्टिक अम्ल के बैक्टीरिया आंतों मे घनीभूत हो जाते हैं और पूतिकारक प्रक्रियाओ को रोक देते है। इस प्रकार ये बैक्टीरिया पाचन सम्बन्धी विकारों को स्वतः ही ठीक कर देते है। दही वैसे भी सरलता से पच जाता है और इसलिए दूध की अपेक्षा उत्तम समझा जाता है। सपरेटे का दही एक उत्तम खाद्य पदार्थ है, और सस्ता एव पौष्टिक होने के कारण जनसाधारण इसका लाभ आसानी से उठा सकते हैं।

(घ) सपरेटे की चपातियां—यह कोई नया विचार नही है। राजस्थान मे दूध मे आटा माडकर चपाती (खांखडा) बनाने की पुरानी प्रथा है। ये चपातियां कई दिनों तक इस्तेमाल की जाती हैं। शुद्ध दूध के स्थान पर ऐसी ही चपातियां सपरेटे से भी बनाई जा सकती है। चाय और कॉफी बनाने में शुद्ध दूध की बहुत अधिक खपत होती है। इसकी जगह यदि सपरेटा इस्तेमाल किया जाए तो भी चाय या कॉफी के स्वाद पर कोई बुरा प्रभाव नही पडता और उपभोक्ता सपरेटे की चाय भी उतनी ही रुचि से पीते हैं जितनी शुद्ध दूध की चाय या कॉफी। इसका एक विशेष लाभ यह होगा कि शुद्ध दूध की खपत काफी कम हो जाएगी और शुद्ध दूध बच्चो और दूध पिलाने वाली माताओं को सरलता से उपलब्ध हो सकेगा।

(च) आइसक्रीम और दूध को ठंडा करके बनाए जाने वाले अन्य खाद्य पदार्थ सपरेटा की खपत के अच्छे साधन सिद्ध हो सकते हैं। यह सच है

कि दूध में चिकनाई होने से अपेक्षाकृत अधिक स्वादिष्ट एवं सुरुचिकर क्रीम बनती है किन्तु फलों का रस या अन्य ऐसे ही पदार्थ मिलाकर यह कमी पूरी की जा सकती है। इस प्रकार की बनी क्रीम स्वादिष्ट भी होगी और पोषक भी तथा क्रीम में क्रीम की कमी महसूस नहीं की जा सकेगी।

(छ) **सूखा दूध**—आर्थिक दृष्टि से सपरेटा एक अन्य रूप में भी उपादेय सिद्ध हो सकता है। इसके लिए कोई विशेष यन्त्र अनिवार्य नहीं है। गांव में भट्ठी पर उबालकर सपरेटे का खोया बनाया जा सकता है। इसे बारीक करके धूप में सुखा लिया जाता है। सपरेटे का सूखा दूध चूर्ण आहार की दृष्टि से उत्तम पदार्थ है। इसमें अच्छे किस्म के 35.2% प्रोटीन और शक्तिदायक 48.4% दुग्धशर्करा होती है और नाना प्राशन आहारों में यह सुविधापूर्वक इस्तेमाल किया जा सकता है। चपाती बनाते समय यह चूर्ण आटे में मिलाने से चपातियों का पौष्टिक मूल्य बढ़ जाता है। यह टाफी बनाने के काम आ सकता है। अनेक मिठाइयां बनाई जा सकती हैं जो सुस्वादु भी होंगी और पोषक भी।

तेल और प्रोटीन के लिए

सोयाबीन—भोजन शरीर की पहली आवश्यकता है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो केवल स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए ही नहीं, अपितु स्वयं जीवन बनाए रखने के लिए प्रोटीन आवश्यक है, क्योंकि प्रोटीन वनस्पति एवं प्राणियों की कोशिकाओं में जीवन के आधार प्रोटोप्लाज्म का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। अभी तक कोई ऐसी जीवन-प्रक्रिया ज्ञात नहीं है, जिसका विकास प्रोटीन के बिना संभव हो। अन्तर केवल इतना है कि पौधे अपने लिए प्रोटीन भूमि और वायु में मौजूद सरल तत्त्वों और यौगिकों से बना लेते हैं, जबकि प्राणियों को सीधे या परोक्ष रूप में वनस्पति प्रोटीन पर निर्भर रहना होता है।

पाश्चात्य देशों में दैनिक भोजन में पशु स्रोतों से प्राप्त होने वाली पर्याप्त प्रोटीन रहती है, किन्तु इसके विपरीत, पूर्वी देशों का इतिहास दाल, चावल और सोयाबीन (वनस्पति प्रोटीन) से जुड़ा है। सोयाबीन प्राचीन काल से चीनी लोगों के भोजन का एक आवश्यक भाग रहा है, जहा से यह सम्भवत. कोरिया होता हुआ पश्चिमी गोलार्ध तक पहुचा। यह एक अजीब बात है कि इसका जन्म-स्थान पडोस मे होते हुए भी भारतीय संभवत: 1880 ई० के पहले तक इससे परिचित नही थे तथा परिचय के उपरांत भी इसकी काश्त केवल कुछ पहाडी इलाकों तक ही सीमित रही।

भारत में सन् 1940 के आसपास किए गए अनुसंधानों के आधार पर यह समझा जाने लगा था कि सोयाबीन मे ट्रिप्सिन रोधी पदार्थ होने के कारण इसका समुचित उपयोग कठिन है, परन्तु आधुनिक अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उबालने पर या गरम करने से ये अनावश्यक पदार्थ स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

पोषक गुण

केंद्रीय खाद्य प्रौद्योगिक अनुसंधान संस्थान, मैसूर तथा गोविन्द वल्लभ पन्त कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय में किए गए अनुसधानो से पता चलता है कि सोयाबीन में 40-43 प्रतिशत प्रोटीन होती है। उबालने से प्रोटीन के पोषक गुण बहुत बढ जाते हैं तथा शरीर निर्माण के लिए आवश्यक मिथिओनिन एवं सिस्टीन नामक ऐमिनो अम्ल मिलाने पर ये दूध की प्रोटीनों के समान पौष्टिक हो जाते है। मूंगफली और बिनौले की प्रोटीन की अपेक्षा सोयाबीन की प्रोटीन अच्छी होती है। यही कारण है कि सोयाबीन के आटे का प्रयोग प्रोटीन बहुल खाद्य पदार्थ तथा प्राशन आहार बनाने मे किया जाता है।

सोयाबीन मे आवश्यक ऐमिनो अम्लों की लगभग पर्याप्त मात्रा प्राप्त होती है। इसमें लाइसीन और वेलीन जैसे परमावश्यक ऐमिनो अम्लों की प्रचुरता होती है। किन्तु बहुत अधिक गर्म करने पर लाइसीन, आर्जिनीन

तथा ट्रिप्टोफेन की पौष्टिकता कम होने का खतरा रहता है। सोयाबीन की रासायनिक रचना से पता चलता है कि इसके कम चिकनाई वाले आटे में 50 प्रतिशत प्रोटीन होती है।

सोयाबीन के कम चिकनाई वाले आटे की रासायनिक रचना प्रति 101 ग्राम—

प्रोटीन	50.00 ग्राम
चिकनाई	7.00 ग्राम
कार्बोहाइड्रेट	30.00 ग्राम
कैल्सियम	0.33 ग्राम
फास्फोरस	0. 4 ग्राम
लोहा	5.66 माइक्रोग्राम
थायामिन	0.70 मिलीग्राम
राइबोफ्लेविन	0.58 मिलीग्राम
निकोटिनिक अम्ल	5.7 मिलीग्राम
कैलोरी प्रति 100 ग्राम	3·83

सोयाबीन के कम चिकनाई वाले आटे में आवश्यक ऐमिनो अम्लों की प्रतिशत मात्रा—

आर्जिनीन	7.2
हिस्टिडीन	2.4
लाइसीन	6.3
ट्रिप्टोफेन	1.4
मिथिओनीन	1.3
सिस्टीन	3.1
थ्रिओनीन	3.9
फिनाइलऐलेनीन	4.9
ल्यूसीन	7.7
आइसोल्यूसीन	5.4
वेलीन	5.3

गृहणिया यदि यह समझ लें कि कमजोर बच्चों, रोगियों, दुधमुंहे बच्चो, माताओं तथा गर्भवती महिलाओ को प्रोटीन-बहुल आहार की सबसे अधिक आवश्यकता होती है और कम खर्च मे घर बैठे इसकी पूर्ति की जा सकती है, तो देश की अपोषण, अल्पपोषण और कुपोषण संबधी अनेक समस्याए स्वय हल हो जाएंगी। यह सत्य है कि दूध, मछली, मास और अडा आज सामान्य मनुष्य की पहुंच के बाहर है। यही नही, ससार की सात करोड़ प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ़ने वाली आबादी को देखते हुए यह असम्भव प्रतीत होता है कि खाद्य प्रोटीन की मांग पशु साधनों से पूरी हो सकेगी। भूख जब स्वयं सुरसा के समान मुह फैनाए सामने खड़ी हो तो पोषक आहार का महत्त्व और भी अधिक बढ जाता है।

देश मे सोयाबीन के उत्पादन, अनुसंधान एवं उपयोग द्वारा आहार की मात्रा तो बढ़ेगी ही, गुणों की दृष्टि से भी दैनिक भोजन उत्तम, पौष्टिक एवं स्वास्थ्यवर्धक हो सकेगा।

र्वपं निर्वाह किया। 1833 में इस दाल का दुष्परिणाम सम्मुख आने लगा। 30 वर्ष से कम आयु के युवकों को कमर से नीचे लकवा मार जाता था और वे अपने अंगों का उपयोग करने में असमर्थ होते जा रहे थे। 1833-34 में गांव की जनसंख्या के आधे युवक इससे पीड़ित हो चुके थे और चलने से मजबूर हो चुके थे।" 1904 के बाद यह रोग मध्य प्रदेश, कश्मीर, उत्तर प्रदेश, पंजाब, भोपाल, बिहार एवं पश्चिमी बंगाल में बुरी तरह फैला।

आयुर्वेद के ग्रंथ 'भावप्रकाश' में 'त्रिपुट' दाल से पंगु हो जाने के रोग को 'कलयकंज' कहा गया। प्रसिद्ध यूनानी चिकित्सक 'हिपोक्रेट्स' ने महामारियों के सम्बन्ध में लिखते हुए इस रोग का वर्णन किया कि लगातार मटरी खाने से पुरुष एवं स्त्रियां पंगु हो गईं तथा यह अवस्था बनी रही। जर्मनी में 1671 में वुर्टेनबर्ग के ड्यूक ने खेसरी की रोटियों का इसके विशेष पक्षाघाती कारण से निषेध कर दिया था। कोजिवनिकोव, गाबालिन व मुन्चीना आदि ने रूस में इस रोग के पीड़ित होने का वर्णन किया है। फ्रांस, स्पेन, इटली, ईरान, अल्जीरिया आदि में भी खेसरी से होने वाले लंगड़ा रोग का वर्णन मिला है।

रोग की प्रारंभिक अवस्था में जब व्यक्ति विश्राम करता है, तो रात्रि में पिंडलियों में एकाएक तीव्र पीड़ा की अनुभूति होती है तथा पिंडलियों की पेशियां ऐंठकर गेंदनुमा हो जाती हैं। जांघ की पेशियां भी सिकुड़ने लगती हैं, जिससे पैरों की उंगलियां भीतर की ओर मुड़ जाती है। इसके बाद की अवस्थाओं में पेशी सिकुड़ने के बाद एकाएक ही बेहद पीड़ा अनुभव होती है। व्यक्ति लंगड़ाने लगता है और रोग अधिक बढ़ने पर पुरुषों के अंगों में कड़ापन एवं भारीपन बढ़ने से छह माह के भीतर ही बैसाखियों का सहारा लेना पड़ता है। रोटी कमाने वाले हाथ बैसाखी पकड़ लेते हैं। रोग की प्रारंभिक अवस्था में व्यक्ति लचकता हुआ चलता है, फिर एक बैसाखी। बाद में दो तथा अंतिम अवस्था में घुटनों के अत्यंत झुक जाने से और पैरों के कड़े हो जाने से वह चलने में पूर्णतः असमर्थ हो

जाता है। घुटनों से पैर मुड़ जाते हैं और रोगी घिसट-घिसटकर हाथों के सहारे चलता है।

खेसरी दाल से होने वाले लंगड़ा रोग से पीड़ित व्यक्तियों में 75 प्रतिशत भूमिहीन मजदूर हैं। निर्धनता के कारण यह सस्ती तथा आसानी से उगने और अत्यधिक पैदावार देने वाली खेसरी दाल उनका प्रमुख भोजन है। खेसरी से दाल, रोटी दोनों तैयार की जा सकती है। यह बेहद सस्ती भी है। कम मेहनत से ही अधिक पैदा हो जाती है। सूखे के कारण भी इसकी पैदावार में अंतर नहीं आता है। अन्य फसलें न होने पर लोग पूर्णत: खेसरी पर ही निर्भर करते हैं। हरी सब्जी, दूध, मांस, अंडे के अभाव में सिर्फ मटरा पर निर्भर रहने के कारण जून के बाद रोग के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। रोगियों की सर्वाधिक संख्या जुलाई में होती है। इन महीनों में मजदूर वर्ग के पास खाने को सिर्फ खेसरी ही रह जाती है।

खरीफ की फसलें कटने के बाद अन्य अनाज मिलने के कारण इस रोग के रोगियों की संख्या घट जाती है।

पोषण अनुसंधान संस्थान (हैदराबाद) में खेसरी दाल के रोग-विष की चूजों के शरीर में सुई लगाने से उनके पैरों में एक घंटे बाद ही थोड़ी मात्रा के बावजूद लकवा मार गया। रोग-विष की अधिक मात्रा से चूजों की मृत्यु हो जाती है। दैनिक भोजन में दो-तिहाई से अधिक खेसरी के प्रयोग से रोग-विष का प्रभाव पड़ने लगता है और व्यक्ति को लकवा मार जाता है। भोजन में 40 प्रतिशत से अधिक खेसरी की दाल की मात्रा का उपयोग करने वाले व्यक्तियों में दो-चार महीने में ही लकवे के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अत: एक-चौथाई से अधिक खेसरी भोजन में नहीं लेनी चाहिए।

यों देश के कई क्षेत्रों में खेसरी निम्न वर्ग के लिए वरदान है तथा इसी के सहारे वे जीवित रह पाते हैं। खेसरी दाल में 28 प्रतिशत अच्छे गुणों वाली प्रोटीन होती है। यदि इस विशेष रोग-विष को दाल से अलग कर दिया जाय, तो ऐसे कुपरिणाम सम्मुख नहीं आ सकते। पोषण अनुसंधान संस्थान में खोज के परिणामस्वरूप रोग-विष को दूर करने की विधियां

विकसित की गई हैं। खेसरी दाल को उससे मात्रा में चार गुना अधिक और खौलते हुए पानी में घंटे-भर तक रख देने के बाद उस पानी को निथार देना चाहिए। फिर इसे ठंडे पानी से धोकर धूप में अच्छी तरह सुखा लेना चाहिए। इससे 80-90 प्रतिशत रोग-विष दूर हो जाता है। इसके बाद इसकी रोटियां बनाई जा सकती हैं। इसी तरह बड़े पैमाने पर पहले दाल को बारह घंटे तक ठंडे पानी में भिगोने के बाद पानी निथार कर 20-30 मिनट गरम भाप के संपर्क में रखी जाती है। फिर बीजों को एक घंटे तक ठंडे पानी में भिगोया जाता है। इस तरह रोग-विष 80-90 प्रतिशत कम हो जाता है। तब इन्हें धूप में सुखाकर खाने के काम में लाया जाता है।

विभिन्न क्षेत्रों से खेसरी दाल के नमूनों में रोग-विष के प्रतिशत का पता लगाया गया है। इनमें 0.1 से 2.5 प्रतिशत तक रोग-विष की मात्रा पाई गई है। रोग-विष को कम प्रतिशत वाली किस्मों का प्रजनन करके नई रोग-विष से मुक्त किस्में तैयार की जा रही हैं।

अतः खेसरी खाने से पहले उसका रोग-विष दूर कर लेना चाहिए और जहां तक संभव हो रोग-विष की कम मात्रा वाली किस्में ही उगानी चाहिए।

